शान्ति-सम्बोध

सम्बोधक-शान्ति मुनि

पुस्तक शान्ति-सम्बोध

सम्बोधक शान्ति मुनि

संकलन-सम्पादन श्रीमती कुसुम लता "काजल"

संस्करण प्रथम, दिसम्बर १९८९

मूल्य लागत मात्र रु. १४)

मुद्रक शशि प्रिन्टर्स, उदयपुर

प्रकाशक समतासत् साहित्य प्रकाशन ट्रस्ट, भदेसर

मन प्राणों का कण - कण

जिनकी ऊर्जा से

अनुप्राणित

है—

उन्हीं

समता—दिवाकर

आचार्य श्री

"नानेश"

के

चरणों

में

लता 'काजल'



सम्पादकीय

जनकल्याणी जिनवाणी को परमोपयोगी एवम् अधिकतम श्रेयकारी बनाने हेतु यह आवश्यक है कि विद्वद्जनों के मुखारविन्द से निकले प्रत्येक शब्द को हृदयंगम करके उस पर मनन किया जाए। परोपकारी महापुरुष तो सर्वजन हिताय की भावना से शास्त्रों का निचोड़ कर हमें नित्य प्रति अमृतरस का पान कराते ही हैं, किन्तु उस वाणी को उस समय सुनकर बाद में चिन्तन-मनन करने हेतु यदि उस अजस्रधारा का संकलन हो जाए तो भविष्य में समस्त जन समुदाय उससे लाभान्वित हो सकता है। महापुरुषों के वे सम्बोधन सुदूर क्षेत्रों का भी हित कर सकते हैं। इसी दृष्टिकोण से समय-समय पर श्रद्धेय गुरुदेव एवम् अन्य मुनिराजों के सम्बोधनों का संकलन-सम्पादन होता रहा है। इसी श्रृंखला में योगदान देने हेतु मेरे मानस में भी स्फुरणा जागृत हुई कि मुनिश्री जी के सम्बोधनों का एक संकलन तैयार किया जाए।

समतादर्शन प्रणेता आचार्य श्री नानेश के सुशिष्य पं. रत्न श्री शान्ति मुनिजी म. सा. की देशना द्वारा मेरे जैसी अनेक मुमुक्षु आत्माओं को सन्मार्ग मिला है। आप श्री के पाण्डित्य, सरस व्यावहारिकतापूर्ण ज्ञान तथा अद्भूत

प्रस्तुतिकरण शैली की छाप आप श्री द्वारा प्रणीत साहित्य एवम् उद्‌बोधनों द्वारा हृदय पर सीधा प्रभाव छोड़ती है।

चूंकि मुनिप्रवर का प्रथम सम्बोधन आत्मशान्ति पर ही केन्द्रित था और इस पीयूष सरिता का शेष भाग भी शान्ति की प्राप्ति एवम् उसके उपायों द्वारा शान्ति का स्वर ही मुख्यतया मुखरित करता हुआ जान पड़ता है, अतएव इस संकलन को मैंने "शान्ति-सम्बोध" नाम दिया है, जो कृति के अनुरुप ही प्रतीत होता है।

मुनिश्री जी के ओजस्वी एवम् सत्प्रेरणादायक सम्बोधनों की मौलिकता बनाए रखने का यद्यपि मैंने यथा सम्भव प्रयास किया है, फिर भी नहीं जानती कि इसमें कहां तक सफल हो सकी हूँ। इसका निर्णय तो जिज्ञासु धर्मबन्धु ही कर पायेंगे।

यद्यपि यह मेरा हास्यास्पद "टिटिहरी प्रयत्न' ही है, तथापि अपने इस यत्किञ्चित् श्रीगणेशीय प्रयास को श्रद्धेय मुनिश्री जी के चरणों में समर्पित करती हुई मैं अपार आनन्द की अनुभूति कर रही हूँ।

यहाँ मैं यह भी स्पष्ट करना चाहूँगी कि प्रस्तुत कृति के सम्पादन में श्रद्धेय मुनिश्री जी के सहयोग-निर्देशन की अपेक्षा मेरी स्वयं की सृजन-शैली का ही स्वर प्रमुख रहा है, अत: किसी भी प्रकार की सैद्धान्तिक तथा साहित्यिक त्रुटि के लिए मेरी अल्पज्ञता को ही उत्तरदायी समझा जाए।

लता "काजल"
एम. कॉम

प्रकाशकीय

उन्नत साहित्य समाज का दिशा दर्शक होता है। उसमें भी सन्तों के द्वारा सम्बोधित वचनों का साहित्य के रूप में सृजन होना अपना अलग ही प्रभाव रखता है। क्योंकि वे वचन त्याग की भाव भूमि से प्रस्फुटित होते हैं। सन्तों के वचन केवल वचन ही नहीं होते वे स्वयं में आचरित अनुभव होते हैं। साधना की अनुगुंज उन वचनों के प्रत्येक वर्ण में समायी हुई होती है। इसी दृष्टि से वे सीधे प्रभावक होते हैं सीधा हृदय पर चोट करते हैं और वह चोट होती है विरक्ति की दस्तक।

ऐसे ही प्रभावक हृदय स्पर्शी सम्बोधनों का संकलन हम आपके हाथों में अर्पित कर रहे हैं।

विद्वद्वर्य तपस्वी श्री शान्ति मुनिजी म. सा. के विचारों के इस संकलन का सम्पूर्ण श्रेय जम्मू निवासी विदुषी महिला श्रीमती लता 'काजल' को जाता है। एतदर्थ हम उनके प्रति आभार व्यक्त करते हैं।

प्रस्तुत संकलन का प्रकाशन कराते हुए हम अत्यन्त हर्ष का अनुभव कर रहे हैं। इस अलभ्य प्रकाशन से हमारा

संघ तो गौरान्वित होगा ही, साथ ही धर्म दलाली का लाभ भी हमें प्राप्त होगा। इन सम्बोधनों के लेखन तथा सम्पादन में मुनि श्री जी का जरा भी योग नहीं रहा है। यह हमारी स्वतन्त्र निधि है। यदि यह श्री शान्ति मुनिजी म. सा. की कृति होती तो संघ की रीति नीति के आधार पर आचार्य भगवन् को समर्पित की जाती। अस्तु यह हमारी ऐच्छिक निधि एवम् थाती हैं, अतः हम इसका सर्वजन हिताय उपयोग कर रहे हैं।

इस संकलन के प्रकाशन में हम कितने सफल हुए हैं, इसका मूल्यांकन तो पाठक स्वयं करेंगे; जब यह लघुकाय पुस्तिका उनके हाथों में पहुँचेगी। पुनः हम अपने आपको भाग्यशाली समझते हुए सम्बोधनों का यह पंचम पुष्प पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करते हैं।

चाँदमल भैरूलाल सरूपरिया एवम् परिवार

संस्थापक

श्री समता सत् साहित्य प्रकाशन ट्रस्ट

भदेसर (राज.)

अनुक्रमणिका

सम्यग्दर्शन को ही धर्म का मूल बताया गया है। सभी स्थानों पर शास्त्रों में सम्यग्दर्शन और सम्यग्दर्शन के साथ सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र की चर्चा है। सम्यग्दर्शन को सभी का मूल कहकर प्रथम रूप से अनिवार्य बताया गया है। यहां तक कहा गया है कि सम्यग्दर्शन के अभाव में सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र – ये दोनों उपलब्ध ही नहीं हो सकते। सम्यग्ज्ञान के साथ सम्यग्दर्शन आवश्यक है–दोनों एक दूसरे के सहचारी हैं। सम्यग्ज्ञानी अवश्य ही सम्यग्दर्शन प्राप्त करने वाला होगा लेकिन सम्यग्दर्शन की अनिवार्यता के साथ सम्यग्दर्शन के सहचर अर्थात सम्यग्ज्ञान के अनिवार्य होने की शर्त है। कहने का अर्थ यह है कि सम्यग्दर्शन प्राप्त हो जाने पर सम्यग्ज्ञान उसके साथ ही प्राप्त होना निश्चित है, किन्तु सम्यग्दर्शन के अभाव में कितना अधिक ज्ञान भी प्राप्त कर लेने पर वह सम्यग्ज्ञान नहीं माना जाता, अपितु मिथ्याज्ञान ही रहता है।

"धम्मो सम्यग्मूलो"

तर्ज : समकित नहीं लहयु ....

समकित ना लही मैं, प्रभुवर दर्शन किस विध पाऊँ ।

पर-घर में नित भ्रमत फिरत हूँ, अपनों घर ना जाण्यो ।
पर ने अपनों मान सदा ही, नहीं निज रूप पिछाण्यो ।।
समकित....

देह भाव में रमी रह्यो हूँ, आतम भाव न जाग्यो ।
आरम्भ परिग्रह छोड़ दियो पण, ममता भाव न त्याग्यो ।।
समकित....

जप-तप संयम-ब्रह्मचर्य को, व्रत पण आदर लीधो ।
भेष रचायो ऊपर से सब, मन नहीं निर्मल कीधो ।।
समकित....

भोग-रोग है महा दुःखदायी, आगम मांही गायो ।
पर उपदेश में सब ही बतायो, मनसूं नहीं विसरायो ।।
समकित....

जब तक मन करणी को अन्तर, मिटे नहीं तिलराई ।
तब तक किस विध कहूं प्रभुवर, समकित मुझमें आई ।।
समकित ...

बिनती एक प्रभु सूं मारी, आतम दर्शन पाऊँ।
परम 'शान्ति'-पद पाकर प्रभुजी, अजर-अमर बन जाऊं।
समकित..

सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान का साहचर्य भाव :

गीतिका की पंक्तियों में चिरपरिचित संकेत प्रस्तुत किए ग हैं। सम्यग्दर्शन की व्याख्या—विवेचना और गहराई में ह जितना ही उतरें, उतना ही प्राप्त करते जाते हैं। उतनी ह गूढ़ता बढ़ती जाती है। शास्त्रों में सम्यग्दर्शन की बहुत गह व्याख्या की गई है। शास्त्रों का मूल प्रतिपाद्य ही सम्यग्दर्शन है धर्म की व्याख्या इस प्रकार दी गई है :

वम्मो सम्यग्मूलो।

सम्यग्दर्शन को ही धर्म का मूल बताया गया है। सभी स्थानों पर शास्त्रों में सम्यग्दर्शन और सम्यग्दर्शन के साथ सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र की चर्चा है। सम्यग्दर्शन को सभी का मूल कहकर प्रथम रूप से अनिवार्य बताया गया है। यहाँ तक कहा गया है कि सम्यग्दर्शन के अभाव में सम्यग्ज्ञान और सम्यग्-चारित्र—ये दोनों उपलब्ध ही नहीं हो सकते। सम्यग्ज्ञान के साथ सम्यग्दर्शन आवश्यक है—दोनों एक दूसरे के सहचारी हैं। सम्यग्-ज्ञानी अवश्य ही सम्यग्दर्शन प्राप्त करने वाला होगा लेकिन सम्यग्-दर्शन की अनिवार्यता के साथ सम्यग्दर्शन के सहचर अर्थात् सम्यग्-ज्ञान के अनिवार्य होने की शर्त है। कहने का अर्थ यह है कि

सम्यग्दर्शन प्राप्त हो जाने पर सम्यग्ज्ञान उसके साथ ही प्राप्त होना निश्चित है, किन्तु सम्यग्दर्शन के अभाव में कितना अधिक ज्ञान भी प्राप्त कर लेने पर वह सम्यग्ज्ञान नहीं माना जाता, अपितु मिथ्या-ज्ञान ही रहता है। उत्तराध्ययन सूत्र में बताया गया है :

मासे-मासे उ जो बालो कुसग्गेण तु भुंजए।
न सो सुक्खायधम्मस्स कलं अग्घइ सोलसिं ।।

अर्थात् अज्ञानी जीव, जिसे मिथ्यादर्शनी जीव कह दें ऐसा व्यक्ति जिसे सम्यग्दर्शन नहीं है, उसका तप-ज्ञान आचरण चाहे जितना उच्च कोटि का क्यों न हो, वह निरर्थक ही कहा जाता है। शास्त्र के वर्णनानुसार बाल अज्ञानी पुरुष को कहा है। इस गाथा में बताया है कोई यदि मासखमण की तपस्या इतनी उग्र करे कि प्रत्येक मासखमण के पारणे में सुई के अग्र भाग पर जितना आए उतना आहार ग्रहण करें और फिर पुनः मासखमण की तपस्या करें। पुनः सुई के अग्र भाग जितना आहार और फिर मासखमण! कितनी कठोर तपश्चर्या हो सकती है, कल्पना करके देखो आप। लेकिन शास्त्रकार कहते हैं कि इतना उग्र तपश्चर्याचरण करने वाला भी यदि सम्यक्त्वी नहीं है—बाल है—अज्ञानी है, तो उसकी तपस्या का फल कितना बताया? कहते हैं चन्द्रमा की सोलहवीं कला के बराबर भी उसका वह तप नहीं माना जाता। क्या समझें? शुक्ल पक्ष और कृष्ण पक्ष—ये दो पक्ष होते है न? शुक्ल पक्ष का चन्द्रमा जब बढ़ते-बढ़ते पूर्णिमा

बिनती एक प्रभु सूं मारी, आतम दर्शन पाऊँ।
परम 'शान्ति'-पद पाकर प्रभुजी, अजर-अमर बन जाऊँ ।।
समकित....

सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान का साहचर्य भाव :

गीतिका की पंक्तियों में चिरपरिचित संकेत प्रस्तुत किए गए हैं। सम्यग्दर्शन की व्याख्या–विवेचना और गहराई में हम जितना ही उतरें, उतना ही प्राप्त करते जाते हैं। उतनी ही गूढ़ता बढ़ती जाती है। शास्त्रों में सम्यग्दर्शन की बहुत गहन व्याख्या की गई है। शास्त्रों का मूल प्रतिपाद्य ही सम्यग्दर्शन है। धर्म की व्याख्या इस प्रकार दी गई है :

धम्मो सम्यग्मूलो।

सम्यग्दर्शन को ही धर्म का मूल बताया गया है। सभी स्थानों पर शास्त्रों में सम्यग्दर्शन और सम्यग्दर्शन के साथ सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र की चर्चा है। सम्यग्दर्शन को सभी का मूल कहकर प्रथम रूप से अनिवार्य बताया गया है। यहाँ तक कहा गया है कि सम्यग्दर्शन के अभाव में सम्यग्ज्ञान और सम्यग्-चारित्र–ये दोनों उपलब्ध ही नहीं हो सकते। सम्यग्ज्ञान के साथ सम्यग्दर्शन आवश्यक है–दोनों एक दूसरे के सहचारी हैं। सम्यग्-ज्ञानी अवश्य ही सम्यग्दर्शन प्राप्त करने वाला होगा लेकिन सम्यग्-दर्शन की अनिवार्यता के साथ सम्यग्दर्शन के सहचर अर्थात् सम्यग्-ज्ञान के अनिवार्य होने की शर्त है। कहने का अर्थ यह है कि

सम्यग्दर्शन प्राप्त हो जाने पर सम्यग्ज्ञान उसके साथ ही प्राप्त होना निश्चित है, किन्तु सम्यग्दर्शन के अभाव में कितना अधिक ज्ञान भी प्राप्त कर लेने पर वह सम्यग्ज्ञान नहीं माना जाता, अपितु मिथ्या-ज्ञान ही रहता है। उत्तराध्ययन सूत्र में बताया गया है :

मासे-मासे उ जो बालो कुसग्गेण तु भुंजए।
न सो सुक्खायधम्मस्स कलं अग्घइ सोलसिं ॥

अर्थात् अज्ञानी जीव, जिसे मिथ्यादर्शनी जीव कह दें ऐसा व्यक्ति जिसे सम्यग्दर्शन नहीं है, उसका तप-ज्ञान आचरण चाहे जितना उच्च कोटि का क्यों न हो, वह निरर्थक ही कहा जाता है। शास्त्र के वर्णनानुसार बाल अज्ञानी पुरुष को कहा है। इस गाथा में बताया है कोई यदि मासखमण की तपस्या इतनी उग्र करे कि प्रत्येक मासखमण के पारणे में सुई के अग्र भाग पर जितना आए उतना आहार ग्रहण करें और फिर पुनः मासखमण की तपस्या करें। पुनः सुई के अग्र भाग जितना आहार और फिर मासखमण ! कितनी कठोर तपश्चर्या हो सकती है, कल्पना करके देखो आप। लेकिन शास्त्रकार कहते हैं कि इतना उग्र तपश्चर्याचरण करने वाला भी यदि सम्यक्त्वी नहीं है—बाल है—अज्ञानी है, तो उसकी तपस्या का फल कितना बताया ? कहते हैं चन्द्रमा की सोलहवीं कला के बराबर भी उसका वह तप नहीं माना जाता। क्या समझें ? शुक्ल पक्ष और कृष्ण पक्ष—ये दो पक्ष होते है न ? शुक्ल पक्ष का चन्द्रमा जब बढ़ते-बढ़ते पूर्णिमा

की रात्रि में पूर्ण चन्द्र हो जाता है–तब तक के 16 दिन चन्द्रमा की 16 कलाएँ कही जाती हैं। शास्त्रों की वाणी का श्रुतधर्म का ठीक से बोध जिसे नहीं है ऐसे बाल अर्थात् अज्ञानी पुरुष की घोर तम तपश्चर्या भी नगण्य है। चन्द्रमा की सोलहवीं कला से भी हीन उसकी वह कठोर तपस्या बताई है। अर्थात् सम्यग्दर्शन के अभाव में चारित्र और ज्ञान दोनों ही महत्त्वहीन रहते हैं।

सम्यक्त्व का ऐसा सुप्रभाव क्या ?

सम्यग्दर्शन का इतना महत्त्व क्यों बताया ? सम्यक्त्व ही साधना की मूल प्रवृत्ति है–सम्यक्त्व के बिना जो कुछ ज्ञान करेंगे–जो आचरण करेंगे वह बिना आधार के मकान की तरह शीघ्र धराशायी होने वाला होगा। सम्यक्त्व ही साधना में गतिशील होने का द्वार है। इसी कारण से तत्त्वार्थ सूत्र में सबसे प्रथम सूत्र यही है :

सम्यग्दर्शन ज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः।

गीतिका में यही तड़प :

प्रस्तुत गीतिका में भी सम्यग्दर्शन के लिए ही साधक चित्त की तड़प और व्याकुलता प्रकट हुई है। हम रोज शब्दों और भावों के परिवर्तन द्वारा भी एक ही कथ्य पर चिन्तना-विवेचणा कर रहे हैं। गीतिका बदल जाती है–शब्दावली परिवर्तित होती है, किन्तु भाव मूलतः वही हैं। हाँ, एक बात अवश्य है–शब्द का संप्रेषण कुछ भिन्न प्रभावी होता रहता है, क्योंकि शब्दों का अपना

अलग मत्त्हव होता है। पृथक्-पृथक् शब्द अपना विशेष महत्त्व रखते हैं।

शब्दों का चमत्कारिक प्रभाव :

एक युवा सम्राट का प्रसंग मैंने पढ़ा। वह सम्राट बड़ा ही तेजस्वी और कुशल शासक था। परिवार के समान अपनी सारी प्रजा का पालन करना और उनके सुख-दुःख का पूरा ध्यान रखना ही उसका स्वभाव था। इसी में उसे अनुपम आनन्द मिलता था।

एक बार की घटना है कि वह युवक सम्राट अपने शयन कक्ष में सोया हुआ था। उसे गहरी निद्रा आ गई और उस अवस्था में उसने एक स्वप्न देखा। बन्धुओं, स्वप्न भी प्रगाढ़ निद्रा में आते हैं। वैसे कुछ स्वप्न तो जागते हुए भी आ जाते हैं, लेकिन जो स्वप्न गाढ़ी नींद की अवस्था में आते हैं—उन्हीं को सही अर्थों में हम स्वप्न कह सकते हैं—बाकी तो कल्पना के महल ही समझ लीजिए। वह सम्राट स्वप्न देखता है कि उसके सारे दाँत टूट गए हैं और टूटकर उसके मुँह में ही भर गए हैं। ऐसा स्वप्न देखते ही वह युवा सम्राट चौंक कर जाग जाता है। उसे स्वप्न कुछ अटपटा लगता है। वह चिन्तित होते हुए शेष रात्रि करवटों में ही बिता देता है। स्वप्न से जागने के बाद उसे नींद नहीं आई। बिस्तर में पड़ा हुआ वह मन में अनेक प्रकार के संकल्प-विकल्प करता रहा। वह सोचता है—"यह मैंने क्या देखा? मैं बूढ़ा हो गया हूँ। मेरे सारे दाँत टूट गए हैं। क्या मेरा यौवन

समाप्त होने को है ? क्या इस जवानी की अवस्था में बुढ़ापा आने की पूर्व सूचना में यह स्वप्न मुझे आया है ?"

बन्धुओं, बुढ़ापे से सब घबराते हैं। व्यक्ति तमाम उम्र युवा ही बना रहना चाहता है। बुढ़ापा किसी को अच्छा नहीं लगता। यौवन को बनाए रखना सभी चाहते हैं। समय से पूर्व तो क्या, अपने समय पर भी वृद्धावस्था आनी किसी को अच्छी नहीं लगती , क्योंकि यौवन में शक्ति है–सामर्थ्य है–ओज और गति है।

सम्राट ने अपनी पत्नी को जगाया और उसे अपने स्वप्न की बात बताई। पत्नी ने उसे काफी सान्तवना दी। कहा–"नाथ, आप इतनी चिन्ता क्यों करते हैं ? स्वप्न तो आखिर स्वप्न ही है।" किन्तु सम्राट की बेचैनी कम नहीं हुई। जैसे-तैसे करके रात्रि व्यतीत हुई।

प्रातःकाल होते ही उसने स्वप्न पाठकों को बुलवाया। उच्च कोटि के विद्वान् स्वप्नपाठक आए। सम्राट ने अपना स्वप्न उन्हें सुनाया और उसका शुभाशुभ फल जानना चाहा। एक स्वप्न-पाठक ने हिसाब लगाकर बताया–"महाराज, जिस समय आपने स्वप्न देखा, उस समय नक्षत्र और ग्रहों का योग शुभ नहीं था। यह अनिष्ट स्वप्न है आपके देखते-देखते ही सभी प्रियजनों की मृत्यु का संकेत करता है।" यह फल सुनकर तो सम्राट के सहित अन्य लोग भी चिन्ता में डूब गए। दूसरा स्वप्नपाठक बोला–"राजन् मैं जल्दी में कोई गणना नहीं करता। अतः भली प्रकार

सोच विचार करने को मुझे थोड़ा समय दिया जाए। निश्चित ही मैं कल आपके स्वप्न का ठीक-ठीक फल बता दूँगा। उसे समय दे दिया गया।

दूसरे दिन तक का समय सम्राट का बहुत कष्ट और बेचैनी से बीता। सुबह होते ही स्वप्नपाठक को बुलाने राजकर्मचारी भेज दिए। वह आया। उसने सम्राट को अभिवादन करने के बाद कहा—"महाराज, आपका स्वप्न बहुत शुभ है। यह स्वप्न आपको दीर्घायु बताता है। आप चिरंजीवी रहेंगे और अपने सभी सम्बन्धियों से लम्बी आयु पायेंगे, यही इस स्वप्न का अर्थ है।" राजा यह सुनकर बहुत खुश हुआ। पहले स्वप्नपाठक को जेल का दण्ड और दूसरे को पुरस्कार दिया गया।

बन्धुओं, विचार करके देखो कि दोनों के कथन में क्या अन्तर था? बात तो पहले स्वप्नपाठक ने भी वही कही, लेकिन शब्दों का ध्यान नहीं रखा। अभिप्राय दोनों का वही था—सम्बन्धी सम्राट के सामने ही मृत्यु के ग्रास बनेंगे या सम्राट की दीर्घायु होगी—इन दोनों बातों का मूल में एक ही अर्थ निकलता है, किन्तु एक को दण्ड और दूसरे को पुरस्कार मिला। शब्दों की भिन्नता के कारण दोनों के कथन का अलग-अलग प्रभाव हुआ।

पूर्णिमा का चाँद : दूज का चाँद :

अकबर के नवरत्नों में बीरबल सबसे अधिक बुद्धिमान था। उसकी प्रसिद्धि से कुछ लोग कुढ़ते भी थे। एक बार एक

पड़ौसी राजा ने षड़यन्त्र करके बीरबल को अपने राज्य में निमन्त्रण पर बुलवा लिया। योजना बनाई गई कि दरबार में वाद-विवाद की परीक्षा रखी जाए। धुरन्धर पंडित और विद्वान् उसमें बुलवाए गए। बीरबल को उनके प्रश्नों के उत्तर देने थे। बीरबल ने अपनी वाक् चातुरी और बुद्धिमत्ता से सभी को परास्त कर दिया। अन्त में उस राजा के मंत्री ने अपने देश के राजा का गुणगान करते हुए अकबर को उससे हीन साबित करने की कुचेष्टा की। बीरबल कैसे सहन करे अपने स्वामी की बुराई। लेकिन वह अवसर क्रोध करने का नहीं, अपितु बुद्धिबल की अजमायश करने का था। पड़ौसी देश के राजा ने अपने राजा की तारीफ करते हुए कहा–"हमारे महाराज तो पूर्णिमा के चाँद हैं। तुम्हारे सम्राट किसके समान हैं, बीरबल ? "बीरबल ने बिना एक भी क्षण की देर किए उत्तर दिया–"हमारे सम्राट पूर्णिमा के चाँद नहीं हैं, वे तो दूज के चन्द्रमा हैं।" विरोधियों ने अपने पक्ष की बात सुनी तो उनका प्रतिस्पर्धात्मक दुश्मनी का भाव ठंडा पड़ गया। उनकी योजना थी कि बीरबल अपने सम्राट को हमारे राजा से श्रेष्ठ बताएगा तो हमें संघर्ष का बहाना मिल जाएगा। लेकिन ऐसा हो न सका। बीरबल के उत्तर से उन्हें लगा कि इसने तो स्वयं ही अपने सम्राट की हेयता मान ली है।

उस दरबार में बीरबल से ईर्ष्या रखने वाला अकबर का साला भी बैठा था। उसे मौका मिल गया। उसने तत्काल

अकबर के कान भरे। जाकर उसने अकबर के पास बीरबल की खूब बुराई की और नमक-मिर्च लगाकर बताया कि बीरबल ने तो शत्रु राजा के सामने जहाँपनाह की तौहीन कर दी है। एक बार तो सम्राट अकबर को भी रोष आ गया। बीरबल को तलब किया। उधर अकबर की बेगम ने मौका देखकर अपने भाई को बीरबल का पद दे देने की अकबर से बात रखी। बेगम ने कहा – "ऐसे व्यक्ति को मंत्री पद पर रखने से क्या लाभ जो हुजूर की शान को भी बट्टा लगाए।" अकबर ने सारी बात सुन लेने के बाद निर्णय करने का वचन दिया।

दरबार लगा। बीरबल उपस्थित हुआ। अकबर ने साले साहब द्वारा सुनाई हुई घटना का वर्णन बीरबल से भी बताने को कहा। बीरबल ने कहा–"जहाँपनाह, मैंने तो आपको उस राजा से श्रेष्ठतर बताया है।" –"हम कुछ समझे नहीं, बीरबल, तफसील से बताओ।" सम्राट अकबर ने बेसब्री से कहा। सारी सभा भी बीरबल की ओर टकटकी लगाए उत्सुक होकर देखने लगी।

बीरबल ने स्पष्ट किया—"हुजूर, पूर्णिमा का चन्द्रमा एक रात तो खूब रोशनी देता है, लेकिन उसके बाद क्रमशः निस्तेज होता जाता है और अमावस की रात्रि में उसका नामनिशान भी शेष नहीं रहता। इसके विपरीत दूज का चाँद प्रतिदिन प्रगति करता हुआ अपनी छटा और सुन्दरता बढ़ाकर एक दिन पूर्ण चन्द्र के रूप में आकाश में चमकता है। मैंने उस राजा को पूर्णमासी

का चाँद कहा जो शनैः शनैः निस्तेज होकर अवनति प्राप्त करेगा- यही मेरा भाव था। इसके विपरीत आपको दूज का चांद बताकर मेरा यह कथन था कि हमारे सम्राट दिनों-दिन अपनी शक्ति बढ़ाते हुए पूर्ण चन्द्रमा बनकर यश और प्रगति प्राप्त करेंगे। वहां भी मैंने यही शब्द कहे, लेकिन उन मूर्खों ने उसका अन्तर्भाव न समझा। मैंने तो निडरता से सत्य कहकर विरोधियों के बीच में भी आपकी श्रेष्ठता सिद्ध कर दी और स्वयं भी निरापद और सुरक्षित आ गया।"

मंत्रीपद के इच्छुक अकबर के साले साहब का चेहरा तो उस समय देखने लायक हो गया, जब सारे सभासदों ने हर्षध्वनि करके बीरबल को साधुवाद दिया और अकबर ने भी उसकी प्रशंसा करते हुए कहा—"वाह, बीरबल, शब्दों का चयन करना और युक्तियुक्त उत्तर देना तो कोई तुमसे सीखे!"

बन्धुओं शब्दों का प्रभाव तो होता ही है, लेकिन वे शब्द किस सन्दर्भ में और किस अवसर पर कहे जा रहे हैं, यह भी महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। प्रस्तुतिकरण का तरीका भी भाव को कुछ विशेष गरिमा प्रदान कर देता है।

भूख के अनुरूप भोजन :

एक ऐतिहासिक प्रसंग है। सिकन्दर ने जब तुर्किस्तान पर चढ़ाई कर दी तो तुर्क का बादशाह बड़ा चिन्तित हुआ। अपनी पराजय उसे सामने ही दिखाई दे रही थी। सिकन्दर की फौजों

से टक्कर लेना सरल काम नहीं था, अतः उसने सन्धि-प्रस्ताव सिकन्दर के पास भेजा। सिकन्दर बिना संघर्ष की विजय से बड़ा हर्षित हुआ। तुर्किस्तान के बादशाह ने सिकन्दर को सम्मान देने के लिए दावत का निमन्त्रण भी भेजा। सन्धि पत्र और दावतनामा—दोनों ही सिकन्दर ने स्वीकार किए। निश्चित समय पर सिकन्दर अपने वरिष्ठ गणमान्य सभासदों के साथ तुर्किस्तानी महलों में दावत के लिए पहुँचा। बड़ा शानदार स्वागत-सत्कार हुआ। तुर्किस्तान का बादशाह स्वयं सारा प्रबन्ध देख रहा था। दावत के लिए आयोजन शुरू हुआ। पहले सोने की थालियाँ सबके सामने रखी गईं। थालियाँ खाली थीं। कुछ ही क्षणों में सबकी थालियों में हीरे-मोती बहुमूल्य माणिक्य और ऐसे ही कीमती रत्न परोसे जाने लगे। सिकन्दर हैरान था। सारे साथी भी एक दूसरे की ओर मूर्ख–बने हुए देख रहे थे। किसी की समझ में कुछ न आया। काफी प्रतीक्षा के बाद भी भोजन की सामग्री नहीं परोसी गई तो सिकन्दर ने बादशाह की ओर देखा। तुर्किस्तान का बादशाह उसके तेवर देख कर भी डरा नहीं, वरन् विनम्र भाव से कहा–"हुजूर, शुरू करें।" सिकन्दर तो यह सुनते ही आग बबूला हो गया और बोला,–"यह क्या मजाक है?" बादशाह ने कहा–"हुजूर, भोजन कीजिए न?" सिकन्दर एकदम खड़ा होकर क्रोधित स्वर में गरजा– "यहाँ हमें खाना खिलाने बुलाया है या हमारा अपमान करने?" बादशाह ने अविचलित भाव से हाथ जोड़कर कहा–"जो आपको

पसन्द है जनाब, वही सब कुछ परोसा गया है।" ये शब्द सुनकर सिकन्दर का गुस्सा हैरानी में बदल गया। तुर्किस्तान के बादशाह ने धीमे किन्तु दृढ़ शब्दों में आगे कहा—"भोजन करने को बढ़िया खाद्य पदार्थ तो आपके देश में भी बहुत होंगे। फिर भी आप स्वदेश छोड़कर यहाँ-वहाँ भूख मिटाने को घूम रहे हैं। आपकी भूख को तृप्त करने वाली यही वस्तुएँ तो हैं जो हमने यथाशक्ति आपकी सेवा में हाजिर की हैं।" सिकन्दर को इन शब्दों से मर्मस्पर्शी बोध हुआ वह बादशाह को राज्य लौटाकर अपने देश यूनान लौट गया। यह था बात प्रस्तुत करने का विलक्षण ढंग!

विभिन्न ढंग से सम्यग्दर्शन :

बन्धुओं, मैं भी आपके समक्ष सम्यग्दर्शन व आत्मदर्शन की बात लम्बे समय से विभिन्न ढंग से प्रस्तुत करता रहा हूँ। सम्यग्-दर्शन के बिना हमारा जीवन निस्सार है—साधना अधूरी है—निर-र्थक है। आत्मकल्याण के लिए सम्यग्दर्शन आवश्यक है। जैन धर्म की—जैन दर्शन की वैज्ञानिकता को समझने के लिए जरूरी है कि सम्यग्दर्शन का स्वरूप ठीक से समझा जाए। यों तो संसार में अनेक मिथ्यावादी गलत भ्रान्तियाँ फैलाकर धर्म के स्वरूप को जटिल और संदेहास्पद बना देते हैं, लेकिन सम्यग्दर्शन का तत्त्व ऐसा है जिसे जान लेने पर आत्मा का स्वरूप निर्मल दर्पण के समान स्पष्ट दृष्टि गोचर होने लगता है।

मूर्ति छाया में : मूर्ति धूप में :

एक गाँव की चौपाल पर मूर्ति रखी थी। छोटा-सा गाँव था वह और वहाँ के निवासी भी भोले-भाले और सरल थे। उस

मूर्ति की बड़ी श्रद्धा थी उनके मन में। चौपाल में सब व्यक्ति आकर इकट्ठे होते, वहीं भजन-कीर्त्तन और सत्संग का कार्यक्रम चलता था। एक दिन की बात है, एक साधु घूमते हुए वहाँ आ पहुँचे। उस समय दोपहर का समय था। तेज धूप पड़ रही थी। संत ने ग्रामीणों से कहा – "अरे भले आदमियों, खुद तो धूप में से हट कर बैठे हो और मूर्ति पर धूप आ रही है। अपने आप तो छाया पसंद करते हो। मूर्ति को भी छाया में रखो।" लोग उठे मूर्ति पर छाया कर दी। भजन फिर से चालू हो गया। संत तो आगे चले गए। दो-तीन घंटे बीते होंगे कि एक और संत उधर को आ निकले। मूर्ति पर छाया थी लेकिन सूर्य के दिशा परिवर्तन के कारण चौपाल की सारी जगह में धूप फैली थी। वे संत कहने लगे – "भगवान को छाया में रखा है। अरे, भगवान को छाया की क्या आवश्यकता है? वे तो सभी को छाया देते हैं। वे तो अणु-अणु में व्याप्त हैं। छाया हटाओ भगवान के ऊपर से।" गाँववालों ने छाया हटा दी।

कुछ देर बाद एक तीसरे महात्मा आए। उन्होंने भी मूर्ति पर कुछ टीका-टिप्पणी करनी चाही। गाँववालों ने उनकी बात ही सुनने से इन्कार कर दिया।

बन्धुओं, इस तरह श्रद्धा विचलित हो जाती है। सम्यग्दर्शन हो जाने के बाद किसी प्रकार की कुश्रद्धा और मिथ्यात्व नहीं होने पाता। सम्यग्दर्शन से सम्यग्ज्ञान पुष्ट होता है। सांसारिक कार्य

भी व्यक्ति कर्त्तव्य-भाव से निर्लिप्त होकर करता है। सम्यग्जागरण के प्रयास करना सभी के लिए प्रथम नैतिक दायित्व है। आपका जागरण सांसारिक पदार्थों और विषयों के प्रति है। सम्यग्दर्शन होने के बाद वह सब नहीं रहेगा। तब क्या होगा ? सम्यग्दृष्टा बन जाने पर तो आत्मा का जागरण – आत्मा का चिन्तन होगा। तब उत्सुकता होगी धर्म के स्वरुप को जानने की – सम्यग्ज्ञान की रूचि जागृत होगी। उस स्थिति में धर्म का मूल समझ में आ जाएगा। आप सभी की वह सम्यक्प्यास जागे, इसी मंगलभावना के साथ आज का विषय गौण कर रहा हूँ। ....

23–8–89



कृष्ण जन्म का आध्यात्मिक रूप हम अपने अन्तर में देखें। जन्माष्टमी पर हम विविध प्रकार से उत्सव मनाते हैं। झांकियां बनाते हैं – मिठाई और पंजीरी बना-खा लेते हैं – प्रसाद बाट लेते हैं, और बस। श्री कृष्ण जन्माष्टमी पर्व की पूर्ति हो गई यह मान लेते हैं। जिस प्रकार श्री कृष्ण ने कंस, जरासंध, शिशुपाल आदि का – दुष्टों और दैत्यों का नाश किया, उससे प्रेरणा लेकर हम अपने आन्तरिक कषाय-रूपी दैत्यों को नष्ट करें। हमें क्रोध, मान, माया, लोभ के दैत्यों का नाश करना है – राग-द्वेष को पराजित करना है। उन्होंने गोवर्द्धन पर्वत उठाया था, हमें मान का हनन करके मन रूपी पर्वत पर विजय प्राप्त करनी है। उन्होंने रास रचाया, हम भी धर्म का रंग अपनी चेतना में भरकर आत्मा का रास रचायें।

"कृष्ण जन्माष्टमी"

तर्ज : पावन पुरुषोत्तम...............

जय-जय कृष्णचन्द्र का जन्म, आज सहर्ष मनाते हैं।
सहर्ष मनाते हैं, कृष्ण गुण–गौरव गाते हैं।। जय-जय........
बढ़ा जहाँ दुराचार भयंकर, कंस दुर्योधन थे प्रलयंकर।
जरासंध दुःशासन जग में, प्रलय मचाते हैं।। जय-जय........
कर्मयोगी तुम बनकर आए, दुष्ट दलन सत् रक्षण धाएं।
कर्मयोग निष्काम बने यह, पाठ पढ़ाते हैं।। जय-जय........
कोरा नहीं उपदेश सुनाया, तुमने सब कुछ करके दिखाया।
ग्वाल-बाल-लीलाधर बनकर, गिरि को उठाते हैं।। जय-जय....
नाना विषयों रूप धरे थे, दुःखी जनों के कष्ट हरे थे।
धर्म दलाली करके पद, तीर्थंकर पाते हैं।। जय-जय........
आज जरुरत पुनः कृष्ण की, दशा भयंकर आज विश्व की।
ऐसे में उत्तार कृष्ण लें, सब यह चाहते हैं। जय-जय........
कृष्ण जन्म अन्तर में मनाएँ, काम-क्रोध-तृष्णा को नसाएँ।
आत्म-कृष्ण को विजयी बना, हम शिवपुर पाते हैं। जय-जय....
चित्तवृत्तियाँ गोपियाँ प्यारी, गौमाता इंद्रियाँ प्रियकारी।
कर बस में इन सबको, चरम 'शान्ति' हम पाते हैं। जय-जय....

नूतन चेतना का पर्व :

गीतिका की पंक्तियों में प्रासंगिक संकेत प्रस्तुत किए गए हैं। आज का प्रसंग सर्वविदित प्रसंग है। आज का दिन एक लोकोत्तर चेता पुरुष का जन्मदिन है। सारे भारत में जहाँ भी हिन्दू हैं, वे आज के दिन को बहुत महत्त्व देते हैं। आज एक नवीन नूतन चेतना के आह्वान का दिन है। यूँ तो आज के दिन अनेक व्यक्तियों ने जन्म लिया होगा, लेकिन उनका कोई नाम तक नहीं जानता। अनेक व्यक्ति आज के दिन इस धरा धाम पर अवतरित हुए होंगे। हममें से भी हो सकता है किसी ने जन्म आज के दिन ही लिया हो, लेकिन बन्धुओं, मात्र जन्म होना महत्त्वपूर्ण नहीं होता। नवमी तो बहुत बार आती है परन्तु नवमी कहते ही उस विशेष रामनवमी का स्मरण आ जाता है, जो मर्यादा पुरुषोत्तम राम के जन्म से जुड़ी है। इसी प्रकार अष्टमी को कृष्ण जन्माष्टमी के रूप में एक पर्व बनाकर मनाया जाता है। यह यूँ ही नहीं बन गई। कोई भी महत्त्वपूर्ण मनाए जाते पर्व ऐसे ही नहीं बन जाते उनके पीछे एक इतिहास होता है—गरिमामय कार्यों की यादें होती हैं। जीवन में जब लोकोत्तर कार्य होते हैं, वे तिथियाँ अमर हो जाती हैं। ऐसे व्यक्तियों की जन्मतिथियाँ महत्त्वपूर्ण बन जाती हैं।

विभिन्न संस्कृतियाँ और श्रीकृष्ण :

श्रीमद्भगवद्गीता और महाभारत में श्रीकृष्ण जन्म और उनके जीवन की घटनाओं का विशद विवेचन है। जैन शास्त्रों में भी श्रीकृष्ण के जीवन को बारीकी से उकेरा गया है। वैसे सैद्धान्तिक

ष्टि से वैदिक संस्कृति और जैन संस्कृति में थोड़ा-सा अन्तर पड़ता है। वैदिक संस्कृति में कृष्ण जन्म को अवतारवाद माना गया है। गीता में आया है :

> यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
> अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥
> परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
> धर्म संस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥

अर्थात् – जब जब धर्म का नाश और अधर्म की वृद्धि होती है तब तब मैं जन्म लेता हूँ। कृष्ण यहाँ अर्जुन को अपने जन्म का कारण बता रहे हैं। आगे कहा है – साधुओं की रक्षा करने और दुष्टों का संहार करके मैं धर्म को पुनर्जीवित करने के लिए धरती पर जन्म लेता हूँ। यहाँ थोड़ा समझने का विषय है।

जैनधर्म अवतारवाद के स्थान पर उत्थानवाद को मानता है। दोनों में थोड़ा अन्तर है। हम अवतारवाद को क्यों नहीं मानते यहाँ यह बात समझने की है। एक ओर तो कृष्ण स्वयं कह रहे हैं कि जब-जब धर्म की हानि होती, मैं आता हूँ और दूसरी ओर कहते हैं :

> यत्र गत्वा न निवर्तन्ते तद् धामं परमं मम ।

अर्थात् जहाँ पर जाने के बाद पुनः लौटते नहीं, वहीं मेरा परम धाम है। वहाँ कहा मैं धर्म को बचाने के लिए जन्म लेता हूँ और यहाँ कहा मेरा धर्मरक्षण के साथ ही परम धाम में निवास

भी है कैसा परम धाम ? जहाँ जाकर वापस नहीं आते ऐसा परम धाम ! ये दो विरोधी बातें किस प्रकार सम्भव हैं ? यहाँ बुद्धि संदेहास्पद स्थिति में पड़ जाती है। इस भ्रान्ति की ग्रन्थि को जैन दर्शन ने सुलझाया है।

जैन दर्शन यही कहता है कि हमें यहां लाक्षणिक अर्थ को लेना है। इस कथन में प्रयुक्त शब्दों को न लेकर, उसके मूल भाव को देखना पड़ेगा। जैन धर्म में श्रीकृष्ण को प्रभु या भगवान नहीं बल्कि एक लोकोत्तर पुरुष माना है। जैन दर्शन की सूक्ष्म विश्लेषणात्मक पद्धति यह अध्ययन करती है कि श्रीकृष्ण के जन्म के समय जगत् की क्या स्थिति थी। ऐसे लोकोत्तर पुरुषों का जन्म इस धरा पर कब होता है ? जब उनके जन्म से लोक का कल्याण होना हो – जब उनके जन्म से ही धरती के कष्ट हल्के होने हों।

तत्कालीन स्थिति :

श्रीकृष्ण के जन्म के समय सारहीनता व्याप्त हो चुकी थी - सब ओर अराजकता फैली थी। उस समय वैदिक धर्म की मान्यतानुसार श्रीकृष्ण का अवतार हुआ। अवतारवाद में एक ही आत्मा बार-बार जन्म लेती है, जबकि उत्थानवाद में आत्मा के चरम कल्याण के बाद आत्मा पुर्नजन्म नहीं करती। श्रीकृष्ण के जन्म के समय कैसी स्थिति थी ? वह क्या हालात थे जिसके कारण उन्हें जन्म लेना पड़ा ? हम यह सब समझेंगे तभी हमारा कृष्ण जन्माष्टमी मनाना सार्थक होगा। वायुमण्डल भी विचारों

की प्रामाणिकता मानता और सिद्ध करता है। अराजकतापूर्ण विचारों के बाहुल्य से समस्त वायुमण्डल भी कष्टकारी बन गया था। वह समय धर्म के अवनयन का – उतार का समय कहा जाता है।

श्रीकृष्ण के जन्म से पूर्व ही चारों ओर अत्याचार और दुराचार फैला हुआ था। उस समय के राजा कैसे थे ? शिशुपाल, कंस और जरासंध राजाओं का प्रभुत्व था। युद्धों की मारामार – हिंसा का प्रलयंकारी तांडव प्राय: होता रहता था। दु:शासन, दुर्योधन और कंस-शिशुपाल आदि सभी दुष्ट प्रकृति के अत्याचारी शासक थे। उस समय के पात्रों में सबसे दुष्ट पात्र आता है कंस का। वह कंस – मथुरा के महाराज उग्रसेन का पुत्र था। कंस के जन्म की बात भी बड़ी विचित्र है। कहते हैं जब वह रानी के गर्भ में था तो रानी के मन में यह दोहद उत्पन्न होता है कि अपने पति के कलेजे का माँस खाऊँ।

गर्भ में ही हिंसक-प्रवृति-कंस :

रानी सोचती है कि मेरे गर्भ में कैसा जीव आया है जो ऐसी इच्छा होती है। अपने पति के कलेजे का माँस खाने की दुरेच्छा को वह मन में ही दबाती है, लेकिन गर्भ के बालक की – उस दुरात्मा जीव की कुप्रवृत्ति से उसे चैन भी नहीं मिलता। वह किसी को ऐसी बात बताने से भी मजबूर थी, अत: मन ही मन में कुढ़ती हुई दिन प्रतिदिन दुर्वल होने लगी।

किसी से भी संकोचवश कुछ कह नहीं पाती। कैसे कहे! क्या कहे? यह कि मैं अपने पति के कलेजे का माँस खाऊँगी! फलस्वरुप वह सूखने लगी। कहते हैं दोहद के सम्बन्ध में मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि दोहद पूरा हुए बिना व्यक्ति को कुछ नहीं अच्छा लगता।

महारानी भी दोहद की अपूर्णता के कारण सूखने लगी। उस स्थिति में महाराज उग्रसेन ने रानी से पूछा – "क्या कारण है जो तुम इस प्रकार उदास रहती हो? किस चिन्ता में घुल रही हो? अपने मन की बात निस्संकोच होकर मुझसे कहो। मुझे बताओ, तुम्हें क्या चिन्ता लग गई है?" महाराज के स्नेहयुक्त मधुर शब्दों से आश्वस्त होकर रानी ने अपने दोहद की बात महाराज से बता दी। सुनकर राजा भी चिन्तामग्न हो गए। सोचने लगे – "मेरे कुल में यह कैसी संतान जन्म लेने वाली है, जो रानी को ऐसा दोहद उत्पन्न हुआ है! निश्चय ही यह संतान मेरे कुल को कलंकित करने वाली होगी।"

आखिर चिन्तन द्वारा उपाय सोचा गया। एक तरबूज लाकर उसकी गिरी निकालकर राजा के कलेजे पर रखी गई। उसको महाराजा के कलेजे का माँस समझकर रानी को खाने के लिए कहा। उसे खाकर रानी ने वैसा ही भाव बनाया जैसे पति का कलेजा ही खाया हो। तब कहीं जाकर उसे सन्तुष्टि हुई। धीरे-धीरे उसका मुरझाया हुआ चेहरा खिलने लगा। पहले की

तरह हँसने लगी। राजा उग्रसेन भी प्रसन्न हुए। सोचा – "चलो, अभी की चिन्ता तो मिट गई – आगे जो होगा वह भी देखा जाएगा।" ऐसा सोचकर अपने राजकार्य में लग जाते हैं।

इधर अपने समय पर प्रसव होता है। पुत्र जन्म से प्रसन्नता मिली तो सही, किन्तु कुल को कलंकित करने वाली संतान जान कर उसे घर में रखना भी ठीक नहीं समझा। अतः रानी ने एक कांस्य पात्र यानि पेटी में उस बालक को रखा और नदी में बहा दिया। बहते-बहते वह पेटी सौरिपुर के निकट किनारे लग गई। उसको एक सद्गृहस्थ व्यक्ति बाहर निकालता है। खोलने पर उसमें एक नवजात शिशु को पाकर वह प्रसन्न हो जाता है। बच्चा हाथ-पैर मार रहा था – किलक रहा था। गृहस्थ सोचता है–"मेरे कोई संतान नहीं है। इसकी पुत्रवत् परवरिश करूँगा।" वह उस बालक को अपने घर ले जाकर अच्छी प्रकार उसकी परवरिश करता है। कुछ बड़ा होने पर जब वह बालक बाहर खेलने लगा तो नित्यप्रति नए उपद्रव करता–किसी को पीट देता–किसी का सिर फोड़ देता। उसकी हर रोज की शिकायतों से तंग आकर वह व्यक्ति वासुदेव के पास उसे लेकर गया। कांसे के पात्र में मिलने से उसका नाम कंस पड़ गया था और जब उग्रसेन महाराज और रानी के द्वारा वह कांसे की पेटी में रखकर नदी में बहाया गया था, तब उसके भुजदण्ड पर राज-चिन्हांकित मुद्रिका भी बाँधी गई थी। उस मुद्रिका के होने से उस बालक कंस को क्षत्रिय-सन्तान भी स्वीकार कर लिया गया था। राजकुल का

और क्षत्रिय होने पर भी उसकी प्रवृत्ति दुष्ट थी और वह अपने पालनकर्त्ता के लिए भी समस्या बन गया था। कंस का पालक पिता उसे वासुदेव के पास ले जाकर कहता है – "यह बालक बड़ा वीर और तेजस्वी है। इसे आप शस्त्र विद्या में प्रशिक्षित कराएँ, तो निश्चय ही एक अच्छा योद्धा बन सकता है।" वासुदेव ने कंस को प्रशिक्षण देना आरम्भ कराया। वह क्षत्रिय-पुत्र था ही–चंचल और बलवान भी था, अतः शीघ्र ही सारी कलाएँ सीख लेता है।

वासुदेव जरासंध का अधीनस्थ था। एक बार जरासंध ने वासुदेव को आदेश दिया कि अमुक राज्य पर आक्रमण करना है। वासुदेव के साथ कंस भी युद्ध में गया और उस युद्ध में कंस ने बड़ा ही पराक्रम दिखाया। वासुदेव की विजय हुई। उस विजय का श्रेय बहुत कुछ कंस को जाता था। जरासंध ने कंस से कहा – "मेरे पास जो भी राज्य हैं उनमें से जो चाहो वह राज्य मैं तुम्हें दूँगा। मैं तुम से बहुत प्रसन्न हूँ। जिस राज्य की इच्छा हो वह माँग लो।"

कंस चूंकि अपने जन्मदाता उग्रसेन महाराज और उनकी रानी – अपनी जन्मदात्री माँ से द्वेष रखता था, क्योंकि उन्होंने उसे जन्मते ही नदी में वहा दिया था – यह वात कंस को ज्ञात हो चुकी थी। अतः विद्वेषी कंस ने मथुरा का राज्य अपने अधिकार में माँग लिया। जरासंघ ने कंस को मथुरा का राजा वनवा दिया और साथ ही अपनी पुत्री जीवयशा से उसका विवाह भी करा दिया।

एक प्रकार से वासुदेव ने अपनी बला कंस के गले डाल दी। बात यह थी कि जरासंध वासुदेव के साथ जीवयशा का सम्बन्ध करना चाहता था और उसे बार-बार कहता था कि जीवयशा से विवाह करके मेरे सम्बन्धी बन जाओ, किन्तु वासुदेव को मालूम हो चुका था कि जीवयशा सुलक्षणा स्त्री नहीं हैं। इस कारण से उसने खुद को बचा कर कंस के साथ उसकी शादी करा दी। कंस की प्रवृत्ति और जीवयशा के विचार सही प्रकार मिल गए। दोनों एक से बढ़कर एक थे। कंस ने मथुरा का राजा बन जाने के बाद अपने पिता उग्रसेन को जेल में बंद कर दिया। वासुदेव का कंस उपकार मानता था, अतः उस उपकार से उऋण होने के लिए कंस ने अपने काका की लड़की देवकी से वासुदेव का विवाह कर दिया।

महाराज उग्रसेन का एक और पुत्र अतिमुक्तक था जो कि संयमव्रत अंगीकार कर चुका था। अब प्रसंग क्या बनता है? देवकी के विवाह के अवसर पर कंस की पत्नी जीवयशा विवाहोत्सव के कार्य सम्भाल रही थी। उस समय उसका देवर – यानि मुनि अतिमुक्तक कुमार वहां भिक्षा के लिए पधारते हैं। जीवयशा उनको उपालम्भ देती हुई कहती है – "इतने बड़े राज्याधिपति के भाई होकर तुमको घर-घर भिक्षा माँगने में शर्म नहीं आती? क्यों कुल को कलंकित करते हो? यदि तुम्हारे अन्दर खुद कमा कर खाने की शक्ति नहीं है, तो न सही। तुम्हारे भाई तुम्हारा

गुजारा करेंगे। यहाँ आकर मौज से रहो। तुम्हारे भाई तुम्हारा विवाह भी करा देंगे।"

मुनि अतिमुक्तक ने अपनी भौजाई के कटु और अपमान से भरे शब्दों को धैर्य - क्षमा और शांति के साथ सहन कर लिया। किन्तु जब जीवयशा अहंकार में भरकर अनाप-शनाप बोलती ही गई, तब मुनि को भी क्रोध आ गया। उन्होंने कहा – "तू जिसे सर्वजयी और सर्वशक्ति सम्पन्न मानकर इतना घमंड कर रही है, उसकी मृत्यु एक बालक के हाथों से होगी। देवकी की सातवीं संतान के रूप में कंस की मृत्यु बहुत शीघ्र आने वाली है।"

जीवयशा ने जब यह सुना तो उसे बहुत दुःख हुआ। उसे लगा कि मुनि ने मेरे पति को शाप दे दिया है। संयोगवश उसी दिन राज्य सभा में कंस ने भी दूरागत आए एक ज्योतिषी से अपनी आयु के विषय में पूछा था और उसने भी इसी प्रकार बताया था कि तुम्हारी बहिन देवकी का सातवाँ पुत्र ही तुम्हारी मृत्यु बनकर जन्म लेगा। कंस जब अन्तःपुर में आया तो जीवयशा उदास बैठी थी। कंस ने उसकी उदासी का कारण पूछा, तो जीवयशा ने अतिमुक्तक मुनि के आने की बात बताई। साथ ही मुनि का कथन भी उसने कंस को बताया। कंस ने भी दरबार में की हुई ज्योतिषी की भविष्य वाणी जीवयशा को बताई। दोनों भविष्यवाणियों में आश्चर्यजनक समानता थी। कंस ने खूब विचार किया और वासुदेव के साथ उसने छल से अपना काम बनाने की सोची।

कंस ने वासुदेव से बड़ी ही मीठी स्नेहमयी भाषा में कहा – "देवकी मेरी प्यारी बहिन है। अतः उसके सम्बन्ध में एक बात आपको मेरी माननी ही होगी।" वासुदेव ने कंस की प्रार्थना मान लेने का वचन दिया। तब कपटी कंस ने कहा – "मैं चाहता हूँ कि देवकी की जो भी संतान हो, वह मेरे ही घर पर जन्मे।" वासुदेव ने इसे कंस का देवकी के प्रति स्नेह-बन्धन मानकर अन्यथा न लिया और यह भी सोचा – "चलो, कोई बात नहीं, मामा के घर पर प्रायः बच्चों का जन्म होता ही है। यदि कंस की प्रसन्नता इसी में है तो मुझे क्या ऐतराज हो सकता है।" इस प्रकार छल पूर्ण बातें बनाकर कंस ने देवकी और वासुदेव को अपने विश्वास में लिया और फिर उन दोनों को बंदी बनाकर जेल में डलवा दिया। उसके बाद देवकी की प्रत्येक संतान को कंस जन्मते ही मार डालता है। जैन शास्त्रों में उल्लेख मिलता है कि भद्दिलपुर में रहने वाले नाग गाथापति की पत्नी सुलसा को एक निमित्तक ने बताया कि तुम्हारी सन्तानें मृत जन्मेंगी। सुलसा गाथापत्नी हरिणगमेषी देव की उपासना करके उसका आह्वान करती है। देवता प्रकट होते हैं तो सुलसा कहती है – "मैं मृत वंध्या नहीं कहलाना चाहती।" सुलसा देव से अपनी प्रार्थना दोहराती हुई अपनी सन्तानों का जीवित होना माँगती है। देव ने कहा – "मैं किसी मृत सन्तान को जीवित नहीं कर सकता, परन्तु गर्भ को बदला जा सकता है।" जब देवकी और सुलसा के ऋतुमती होने का अवसर होता, तब देव सन्तान का परिवर्तन कर

देता। दैवमाया से दोनों को एक साथ ही ऐसा प्रसंग उपस्थित होता। देव देवकी की संतान सुलसा के यहां रख देता और सुलसा की संतान देवकी के यहां पहुँचा देता। जब देवकी की सन्तान कंस को प्राप्त होती तो वे मृत ही होती, लेकिन कंस अभिमान में भरा होने से इतना ध्यान न देकर संतान को लेते ही उसे मार डालता था। प्रत्येक बार देवकी की सन्तान की हत्या करके वह कहकहे लगाता – क्रूरता से अट्टहास करता। इस प्रकार छः सन्तानों की हत्या उसने कर दी। अब उसे सातवीं संन्तान की प्रतीक्षा थी।

आई-आई अमोलक आठम आज आई रे।
कन्हैयो जन्मो रे आधी रात में ॥

सातवीं सन्तान अर्थात् कृष्ण के गर्भ में आते ही देवकी सात शुभ स्वप्न देखती है। वह अपने स्वप्न वासुदेव को बताकर अपने इस गर्भ की रक्षा करने को कहती है। वह वासुदेव को बताती है कि 'गोकुल में नन्द की पत्नी यशोदा मेरी सखि है। उससे मेरी बात पहले ही हो चुकी है। नन्द और यशोदा ने हमारी सहायता करने का वचन दिया है। देवकी को कारागृह की यंत्रणा से भी अधिक दुःख अपनी सन्तानों की नृशंस हत्या का था और वह भी अपने ही भाई के हाथ से वे हत्याएँ हुई – यह अहसास उसे अधिक व्याकुल बना देता था। वह बार-बार वासुदेव से कहती – "मेरी यह संतान दुष्ट कंस से किसी भी प्रकार बचा लो।" वासुदेव

आँखों में आँसू भरकर विवशता से कहते – "देवी, हम दोनों तो बंधनों में जकड़े हैं अतः अपनी सन्तान की रक्षा कैसे कर सकते हैं ? उस पुण्यात्मा का तेजयुक्त पुण्यबल ही उसे बचा सकता है।" देवकी बहुत विकल होकर रोती तब वासुदेव कर्मफल और भवितव्यता पर विश्वास बनाए रखने को कहकर उसे विविध प्रकार सान्त्वना देते।

धीरे-धीरे देवकी का प्रसव काल निकट आया। कंस ने देवकी और वासुदेव पर और भी कड़े पहरे लगा दिए। पहरेदारों को प्रतिक्षण सतर्क रहने का – रात में भी जागने का उसने कठोरता से आदेश दे रखा था। सबसे अधिक भय उसे देवकी की इस सातवीं सन्तान से ही तो था। जेल के सुरक्षा-नियन्त्रण बहुत सख्त थे। पहरेदार बड़ी सजगता से अपनी ड्यूटी देते थे। सभी प्रकार से कंस ने सावधानी रखी थी, लेकिन श्रीकृष्ण के जन्म के समय तो लीला ही दूसरी होती है। कृष्ण का जन्म होने के समय सभी पहरेदार गहरी नींद में स्वयमेव ही सो जाते हैं – जेल के ताले खुल जाते हैं। देवकी और वासुदेव के बंधन भी अपने आप खुल जाते हैं। श्रीकृष्ण का जन्म हुआ। देवताओं ने मंगलाचरण मनाए। वासुदेव से देवकी ने कहा – "आप तुरन्त इसे लेकर गोकुल गाँव में नन्दजी के घर जाइये। इस बालक की रक्षा किसी भी प्रकार करनी है। वासुदेव श्रीकृष्ण को लेकर जेल से बाहर निकले। दूसरे कक्ष में कंस ने अपने पिता उग्रसेन को बंदी बना

रखा था। उग्रसेन आहट सुनकर पूछते हैं – "कौन है।" तब वासुदेव ने उत्तर दिया – "आपके बंधन काटने वाला जन्म ले चुका है।" उग्रसेन अपने नवजात नाती को आशीर्वाद देते हैं। इसके बाद वासुदेव कृष्ण को गोकुल में नन्दजी के घर यशोदा के सुपुर्द करके उनकी नवजात पुत्री को ले आते हैं। वासुदेव के लौटने तक सभी पहरेदार दैवमाया से उसी प्रकार सोये रहते हैं। वासुदेव ने देवकी को सारी घटना बताई। उसे आश्वस्त किया। उसके बाद ही उनके बन्धन पूर्ववत् बँध जाते हैं और जेल के दरवाजे भी पहले जैसे थे, वैसे ही बंद हो जाते हैं। पहरेदारों की नींद खुल जाती है और बच्ची का रोना सुनकर वे कंस को सूचना देने दौड़ जाते हैं।

कंस के आने पर वासुदेव ने वह कन्या उसे सौंप दी। कंस चौंकता है – "अरे, यह तो लड़की है – देवकी की सातवीं सन्तान तो पुत्र होने की बात थी। यह लड़की मेरी मौत बनकर आई है ? इसे तो मैं पहली छः सन्तानों की तरह पलभर में मार डालूँगा.... .... लेकिन........स्त्री हत्या करना वीरों को नहीं शोभता .... और फिर इससे मुझे कोई खतरा भी नहीं हो सकता अतः इस कन्या के किसी अंग का छेदन करना ही पर्याप्त रहेगा।" इस प्रकार सोचता हुआ दुर्बुद्धि कंस उस कन्या का अंग छेदन करके उसे छोड़ देता है।

देवकी और वासुदेव को वह उसके बाद भी बंधनमुक्त नहीं

करता है। उधर कृष्ण यशोदा के मातृत्व की स्नेहिल छाया में बड़े होने लगे। कृष्ण ग्वाल-बालों के साथ हिलमिल कर रहते हैं – तीन खंड के अधिपति होने वाले श्रीकृष्ण गौएँ चराते हैं। गोपाल कहलाते हैं। आज गौओं की हत्या होती है – उस समय श्रीकृष्ण ने आततायी कंस के लिए गोकुल की गायों का दूध मक्खन भी मथुरा भेजने से रोक दिया था।

"कहाँ गए गोपालकृष्ण जो गउ को लाड़ लड़ाते।"

बन्धुओं, आज क्या स्थिति है? वैसे कुछ लोग आज भी गाय पालते हैं, लेकिन गौरक्षा और सेवा के भाव से नहीं, बल्कि व्यावसायिक बुद्धि से। गाय को खिलाने से पहले ही उससे होने वाली आमदनी – घी-दूध की बिक्री का हिसाब लगा लेते हैं। स्व. आचार्य प्रवर श्री जवाहरलालजी म. सा. ने गौरक्षा के विषय पर गहन विवेचन प्रस्तुत किया है, वह तो एक विस्तृत विषय है। श्रीकृष्ण की बात चल रही है। श्रीकृष्ण भांति-भांति की बाल लीलाएँ करते हैं। भक्त सूरदास के काव्य पदों में श्रीकृष्ण के बचपन का बड़ा ही सजीव वर्णन है।

श्रीकृष्ण ने मात्र उपदेश ही नहीं दिया, उसको जीवन में उतारा भी है। उनका जीवन कर्मयोगी का जीवन था। बचपन में ही कृष्ण के अद्भुत कार्यों से सब चमत्कृत हो जाते थे।

यमुना के किनारे काली दह में काली नाग रहता था, जिसके कारण गोकुल तथा अन्य निकटवर्ती गाँव के लोगों में आतंक

व्याप्त था वह महाविषधर सर्प नाथकर श्रीकृष्ण ने सबको भय-मुक्त किया। हुआ यों कि ग्वालों के साथ गेंद खेलते समय गेंद यमुना में गिर गई। सभी के रोकने पर श्रीकृष्ण यमुना में कूद पड़े। कालीनाग की पत्नी से कृष्ण का संवाद बड़ा रोचक हैं :-

नागिन– जल छांड़ जमुना जाओ रे बाला, श्याम हमारा जागसी।
जागसी तुम्हें मारसी, रे बाला, बाल हत्या मोय लागसी॥
कुण दिसा सु आयो रे बाला, कौन तुम्हारा गाँव है।
कौन सुखी का पुत्र जोधा, क्या तुम्हारा नाम है॥

कृष्ण– दक्षिण दिसा सु आयो ए नागन, गोकुल हमारा गाँव है।
नन्द जसोदा का पुत्र हूं मैं, कृष्ण हमारा नाम है॥

नागिन कहती है – "तुम यहां क्यों आए हो मेरा पति जाग जाएगा तो तुम्हें मार देगा और मुझको बाल हत्या का पाप लग जाएगा। देखो आप, नागिन भी बाल हत्या का पाप लेना नहीं चाहती और आजकल भ्रूण हत्या और गर्भपात धड़ल्ले से कानूनी करार देकर हो रही हैं। नागिन श्रीकृष्ण का परिचय पूछ रही है और कृष्ण बता रहे हैं। आगे वह कहती है :

नागिन– कहो रे बाला पंथ भूल्यो, के थने बैरी भरमावियो।
के थारा मन मांय क्रोध उफनियो, के थने कोई संतापियो॥

कृष्ण– नहीं ए नागन पंथ भूल्यो, नहीं मने बैरी भरमावियो।
नहीं मारा मन मांय क्रोध उफनियो, नहीं मने कोई संतापियो॥

नागिन–यो ले रे बाला हार हिया को, यो ले रे सिर की डोरियां।
इतनो ले घर जावो रे बाला, देवा थां ने कर चोरियां ॥

कृष्ण– क्या करु ं नागन हार हिया का, क्या करु ं सिर की डोरियां।
नाग को मैं नाथन आयो, क्यों करती तुम चोरियाँ ॥

नागिन–हाथ चांप्यो, पाँव चांप्यो, नागनी नाग जगावियो।
उठो-उठोनी बलवन्त जोधा, थां सु जोरावर आवियो ॥
रीस कर-कर, क्रोध भर-भर जोश धर-धर उठियो।
मुकुट ऊपर झपट मारी, कृष्ण जी चोट चुकावियो ॥
लपट मारी, ठुढी पकड़ी, काली नाग को नाथियो।
नाग नाथी बाहर आयो, मुरली नार सुनावियो ॥
बलहीन होकर जीभ काटे, रक्त धार बहाइयाँ।
नागिन जब आई बोले, कृष्ण तुम पर बारियाँ ॥
जानी तुम बल अर्ज पल-पल, सुनो कल-कल हमारिया।
नाथ छोड़ो ताप मोड़ों, तुम जीता हम हारियां ॥
नर्व छोड़ि नाग बोले मैं तुम्हारी शरण में।
अपराध मेरा माफ कीजे, हुकम हो रहूं चरण में ॥

बन्धुओं, बड़ी सीधी-सरल भाषा है। नागिन कृष्ण से पूछती है—"क्या तू रास्ता भूल कर अथवा किसी के द्वारा बहकाने से यहां आ गया है अथवा किसी ने कष्ट दिया है और तू क्रोध में यहां आया है?" तब कृष्ण कहते हैं कि इनमें से कोई कारण नहीं है। मेरे आने का तो मुख्य कारण है मैं स्वेच्छा से

नाग को नाथने आया हूं। नाथ को जगा और मैं उसको नाथूंगा।" तब नाग को जगाती हुई नागिन ने क्या कहा—"उठो-उठो, बलवान् योद्धा, आज तुमसे सवाया कोई तुमसे लड़ने को आया है।" तब नाग क्रोधित होकर उठा और कई प्रकार से अपने दाँव-पेंच कृष्ण पर चलाए, किन्तु कृष्ण ने उसे परास्त कर दिया और अन्त में नाग ने हार मान कर कहा—"तुम जीता मैं हारिया।" उसके बाद नाग-नागिन अनेक प्रकार से श्री कृष्ण की स्तुति करते हैं। सभी ग्वाल बाल श्रीकृष्ण को सकुशल नाग के फन पर नाचते हुए देखकर प्रसन्नता और भक्ति के अतिरेक से झूम उठते हैं। श्रीकृष्ण वंशी बजाते हुए-नाग के फन पर नृत्य करते हुए यमुना के जल के ऊपर आ जाते हैं। काली नाग को नाथने की इस घटना से सभी कृष्ण भगवान कह कर स्तुति करते हैं।

बन्धुओं, एक नहीं अनेकों घटनाएँ हैं जो कृष्ण के साथ जुड़ी हैं। पूतना राक्षसी का वध, गोवर्धन पर्वत की शरण लेकर इन्द्र के प्रकोप से गोकुल वासियों की रक्षा आदि कितने ही प्रसंग हैं, जो श्रीकृष्ण को लोकोत्तर पुरुष होने की साक्षी देते हैं। आचार्य श्री गणेशीलाल जी म. सा. एक गीत गाते थे :

हरि योगी माही योगी, भोगी में बड़ भोगी, मैं हरि के गुण गाऊँ।

बड़ी भावपूर्ण और गूढ़ अर्थ वाली पंक्ति है यह। इसका विश्लेषण बहुत गहरा है। यहाँ परस्पर विरोधी बातें लगती हैं। योगी और भोगी दोनों ही एक व्यक्ति कैसे हो सकता है? यदि कृष्ण योगी हैं तो भोगी कैसे होंगे? एक समय में नाना गुण

जिसमें घटित हों, वही तो हरि कहलाने का अधिकारी है। ऐसा कैसे सम्भव है ? आपके मन में जिज्ञासा हो सकती है। बन्धुओं, जैन दर्शन तो इसे सम्भव मानता है। एक ही व्यक्ति में स्याद् वाद न्याय की दृष्टि से दो परस्पर विरोधी गुण हो सकते हैं। यह जैन दर्शन का स्याद्वाद और अपेक्षावाद है। अब प्रश्न उठता है– "हरि किसको कहना ?' नीतिकारों का अभिमत है –

हरति जनानां दुःखम् सौ हरिः इति कथ्यते ।

जो संसार के–सब दुःखियों के – आर्तजनों के दुःखों को दूर करे, वह हरि होता है। कहते हैं :

पत्थर में जो प्राण फूँक दे, वह कहलाता राम है।
जन-जन में मुस्कान बाँटता, वो ही तो घनश्याम है ।।

जो चारों ओर मुस्कान बाँटे–सुख बिखेरे वह हरि है। सभी के दुःखों को हरे, वह हरि है। आज व्याख्याएँ बदल गईं हैं। आज क्या हो रहा है ? धन के हरने वाले को हरि माना जा रहा है।

हरति जनानां धनं हरीति कथ्यते ।

आज के सन्दर्भ में हरि के लिए यह परिभाषा दी जाती है। बन्धुओं, आज आवश्यकता है ऐसे हरि की जो हरि के गुणों को सत्य रूप में धारण करता हो। आज क्या माहौल बन रहा है ? आये दिन हत्याएँ, दुराचार और अपराध होते हैं। मैं आपको

नाग को नाथने आया हूं। नाथ को जगा और मैं उसको नाथूंगा।" तब नाग को जगाती हुई नागिन ने क्या कहा–"उठो-उठो, बलवान् योद्धा, आज तुमसे सवाया कोई तुमसे लड़ने को आया है।" तब नाग क्रोधित होकर उठा और कई प्रकार से अपने दाँव-पेंच कृष्ण पर चलाए, किन्तु कृष्ण ने उसे परास्त कर दिया और अन्त में नाग ने हार मान कर कहा–"तुम जीता मैं हारिया।" उसके बाद नाग-नागिन अनेक प्रकार से श्री कृष्ण की स्तुति करते हैं। सभी ग्वाल बाल श्रीकृष्ण को सकुशल नाग के फन पर नाचते हुए देखकर प्रसन्नता और भक्ति के अतिरेक से झूम उठते हैं। श्रीकृष्ण वंशी बजाते हुए-नाग के फन पर नृत्य करते हुए यमुना के जल के ऊपर आ जाते हैं। काली नाग को नाथने की इस घटना से सभी कृष्ण भगवान कह कर स्तुति करते हैं।

बन्धुओं, एक नहीं अनेकों घटनाएँ हैं जो कृष्ण के साथ जुड़ी हैं। पूतना राक्षसी का वध, गोवर्धन पर्वत की शरण लेकर इन्द्र के प्रकोप से गोकुल वासियों की रक्षा आदि कितने ही प्रसंग हैं, जो श्रीकृष्ण को लोकोत्तर पुरुष होने की साक्षी देते हैं। आचार्य श्री गणेशीलाल जी म. सा. एक गीत गाते थे :

हरि योगी माही योगी, भोगी में बड़ भोगी, मैं हरि के गुण गाऊँ।

बड़ी भावपूर्ण और गूढ़ अर्थ वाली पंक्ति है यह। इसका विश्लेषण बहुत गहरा है। यहाँ परस्पर विरोधी बातें लगती हैं। योगी और भोगी दोनों ही एक व्यक्ति कैसे हो सकता है? यदि कृष्ण योगी हैं तो भोगी कैसे होंगे? एक समय में नाना गुण

जिसमें घटित हों, वही तो हरि कहलाने का अधिकारी है। ऐसा कैसे सम्भव है? आपके मन में जिज्ञासा हो सकती है। बन्धुओं, जैन दर्शन तो इसे सम्भव मानता है। एक ही व्यक्ति में स्याद् वाद न्याय की दृष्टि से दो परस्पर विरोधी गुण हो सकते हैं। यह जैन दर्शन का स्याद्वाद और अपेक्षावाद है। अब प्रश्न उठता है– "हरि किसको कहना?' नीतिकारों का अभिमत है–

हरति जनानां दुःखम् सौ हरिः इति कथ्यते।

जो संसार के–सब दुःखियों के–आर्तजनों के दुःखों को दूर करे, वह हरि होता है। कहते हैं:

पत्थर में जो प्राण फूँक दे, वह कहलाता राम है।
जन-जन में मुस्कान बाँटता, वो ही तो घनश्याम है।।

जो चारों ओर मुस्कान बाँटे–सुख बिखेरे वह हरि है। सभी के दुःखों को हरे, वह हरि है। आज व्याख्याएँ बदल गई हैं। आज क्या हो रहा है? धन के हरने वाले को हरि माना जा रहा है।

हरति जनानां धनं हरीति कथ्यते।

आज के सन्दर्भ में हरि के लिए यह परिभाषा दी जाती है। बन्धुओं, आज आवश्यकता है ऐसे हरि की जो हरि के गुणों को सत्य रूप में धारण करता हो। आज क्या माहौल बन रहा है? आये दिन हत्याएँ, दुराचार और अपराध होते हैं। मैं आपको

बता रहा था कि कृष्ण योगी भी थे भोगी भी कहलाते थे। लोग उनके दोनों रूपों को देखते थे, किन्तु कृष्ण तो आत्मस्थ थे—प्रत्येक पदार्थ से निर्लिप्त।

योगी कृष्ण : भोगी कृष्ण :

एक बार का प्रसंग बना। कृष्ण यमुना किनारे रास रचा रहे थे। दुर्वासा मुनि का वहां पधारना हुआ। दुर्वासा मुनि से कृष्ण की चर्चा के दौरान गोपियों ने सुना कि कृष्ण योगी भी हैं, कृष्ण भोगी भी हैं। यह बात सुन कर उन्हें बहुत आश्चर्य हुआ। उन्होंने इसका कारण जानना चाहा। तब श्री कृष्ण ने बगुले के उदाहरण द्वारा और कीचड़ भरे जल में कमल पुष्प की उपमा द्वारा अपने योग और भोग दोनों में स्थिर रहते हुए-दोनों ही अवस्थाओं से निरासक्ति का रहस्य उन्हें समझाया। जल में कमल का पत्ता रहता है किन्तु उसे जल स्पर्श भी नहीं कर पाता, इसी प्रकार कृष्ण योग अथवा भोग दोनों में आत्मस्थ हैं।

इसीलिए कहा है 'कृष्ण योगी में योगी, भोगी में भोगी। इस रूप में भी कृष्ण का जीवन अद्भुत है। एक चित्र लेकर देखिए कृष्ण की अलग ही पहचान आपको दिखाई देगी। उनकी वेशभूषा में योगी और भोगी दोनों रूपों का मिश्रण है। श्रीकृष्ण का जीवन में अध्यात्मभाव बहुतायत से रहा हुआ था। उनके जीवन के ऊपर कई ग्रन्थों में विशद विवेचन मिलता है। कृष्ण योग में उतरते हैं तो योगी हो जाते हैं—भोगों में भोगी हो

जाते हैं—धर्म में धुरन्धर—वाणी में बली—इन सभी के बाद में स्वयं में केवल आत्मा के भाव में मग्न—आत्मस्थ ही रहते हैं। इस रूप में कृष्ण के जीवन को हम बाहर में नहीं, वरन् भीतर में उतार कर देखें। हम अपने अन्दर में कृष्ण का आन्तरिक भाव—निरासक्ति का—निष्काम योग का भाव ग्रहण करें।

आज है जन्म दिन हरि का, करें अध्यात्म-हरि-लीला।
दैत्य-कषाय इन्द्रिय-गोपियाँ, वशि कर आतम राख्या रे॥

बन्धुओं, कृष्ण जन्म का आध्यात्मिक रूप हम अपने अन्तर में देखें। जन्माष्टमी पर हम विविध प्रकार के उत्सव मनाते हैं। झांकियाँ बनाते हैं–मिठाई और पंजीरी बना-खा लेते हैं–प्रसाद बाँट लेते हैं, और बस! श्रीकृष्ण जन्माष्टमी पर्व की पूर्ति हो गई यह मान लेते हैं। जिस प्रकार श्रीकृष्ण ने कंस, जरासंघ, शिशुपाल आदि का–दुष्टों और दैत्यों का नाश किया, उससे प्रेरणा लेकर हम अपने आन्तरिक कषाय-रूपी दैत्यों को नष्ट करें। हमें क्रोध, मान, माया, लोभ के दैत्यों का नाश करना है–राग-द्वेष को पराजित करना है। उन्होंने गोवर्द्धन पर्वत उठाया था, हमें मान का हनन करके मन रूपी पर्वत पर विजय प्राप्त करनी है। उन्होंने रास रचाया, हम भी धर्म का रंग अपनी चेतना में भर कर आत्मा का रास रचायें। आचार्य श्री गणेशी लाल जी म. सा. कहा करते थे–"यह शरीर ही भारत है।" उन्होंने एक गीतिका में दिया है–

देह भारत भाग्य बचाओ रे।

आज हम श्रीकृष्ण जन्मोत्सव मना रहे हैं। मनाने का भाव सार्थक तभी होगा जब हम उनके गुणों का चित्रण करके उन गुणों को अपने में भरने का प्रयास करेंगे। श्रीकृष्ण के जन्म से शिक्षा ग्रहण करें। उस समय शिशुपाल दुष्ट राजा था। हमारा काम ही शिशुपाल राजा है, उसका हनन हम करें। शिशुपाल की वासना रुक्मिणी के प्रति थी पर उसे कृष्ण ले गए। रुक्मिणी ने श्रीकृष्ण से प्रार्थना की थी कि इस दुष्ट से मेरी रक्षा करो। श्रीकृष्ण ने उसे बचाया। हमारे अन्दर में जो आत्म लक्ष्मी है, उसको वासना रूपी शिशुपाल नष्ट कर देता है। हमें अपनी आत्मा को बचाने के लिए ऐसे भव्य पुरुषों के जीवन से प्रेरणा लेनी है। क्रोध रूपी काली नाग है। इसको क्षमा की मुरली से शान्त करना है। यदि ऐसा प्रयास बन सके तो हमारा जन्माष्टमी मनाना सत्य हो–सार्थक हो।

हम आध्यात्मिक जन्माष्टमी को मनाएँ। वैसे हम प्रतिवर्ष जन्माष्टमी मना लेते हैं। अनेकों वर्षों से मना रहे हैं। बन्धुओं, हम कितनी झाँकियाँ बनालें – कितनी ही बार श्रीकृष्ण को झूले में झुला लें – कितने ही बाह्य गुणगान गा लें – यह वास्तविक रूप में जन्माष्टमी मनाना नहीं है – उन युगोत्तर पुरुष के जीवन दर्शन को यदि हम अपने हृदय में उतार सकें, तभी हमारा कार्य सही माना जाएगा।

विषकुम्भो पयोमुखं:।

जन्माष्टमी को सार्थक बनाएँ :

ऊपर से बोलो जय गोपाल की और अंदर में बनो कंस। बाहर में बोलो जय राम जी की और अन्दर में बनो रावण— इस प्रकार का हमारा आचरण नहीं होना चाहिए। जन्माष्टमी के पावन संदेश को हृदय से अपनाएँ, तभी हमारे जीवन की सार्थकता है। हम श्रीकृष्ण जन्म जयंती से कुछ प्रेरणा लेकर अपने जीवन को–अपनी आत्मा को सजायेंगे तो हमारा जीवन सफल होगा–इन्हीं शुभ भावों के साथ मैं अपने विषय को विराम देता हुँ।........

24-8-89

पर घर में हमारा भ्रमण हो रहा है। हमें अपने घर का ही पता नहीं है। आप कहेंगे हमें हमारे घर का कैसे पता नहीं है ? आत्मा के अतिरिक्त- साधना के अतिरिक्त सारे ही पर-घर हैं। आत्मा से भटकाने वाली सभी क्रियाओं के प्रति आप सजग हैं- पर घर के प्रति सारी चर्चाएँ करते हैं- अपने घर की प्रवृत्ति से अनभिज्ञ हो। अपने घर की चर्चाएं नहीं करते। आज व्यवस्थाएं ही ऐसी बन गई हैं। हमारे पास समय ही नहीं अपनी चर्चा के लिए। आप अपना दैनिक जीवन देखकर हिसाव लगाएं। दिन-रात के चौबीस घंटों में अपनी आत्मा कितनी बार याद आई होगी ? आप बाहर का हिसाव तो खूब लगा लेते हो। आत्मा का कभी लगाया ही नहीं। आत्मा का हिसाब लगाकर देखो कि हमने अपनी आत्मा का अवलोकन कितनी बार किया ?

'वृत्ति और प्रवृत्ति'

समकित ना लही मैं प्रभुवर दर्शन किस विध पाऊँ ।।

(प्रार्थना पूर्ववत्......)

गीतिका में स्वरूप बोध के सन्दर्भ में हमारी चर्चा चल रही है। यह बताया जा चुका है कि साधना का मूल है आत्मबोध। साधना की धुरी है – आत्मदर्शन। विगत समय से हम उसी को स्पष्ट करते रहे हैं। भिन्न-भिन्न भावों और शब्दों के द्वारा आत्मस्वरूप को उभारने का यत्न कर रहे हैं। आत्मदर्शन ही नहीं, हमारे व्यावहारिक जीवन को ही हम लें। उसमें भी हमें मूल को परखना होता है। जब तक मूल तत्त्व का बोध नहीं कर लेते, तब तक हमारा व्यवहार भी सम्यक् प्रकार नहीं चल पाता।

व्यवहार में भी सम्यग्भाव :

दैनिक जीवन के प्रसंगों पर भी यदि हम दृष्टिपात करें तो साधना की उसमें भी आवश्यकता रहती है। रोजमर्रा के जीवन में भी हमें ठीक प्रकार देखना, सोचना, विचारना होता है। कोई भी कार्य करें, घर गृहस्थी सम्भालने वाली बहिनें भी सम्यक् प्रकार देख–परख कर–मूलभाव को जानकर ही किसी भी कार्य

में प्रवृत्ति करती है और व्यापार-व्यवसाय का मोर्चा सम्भालने के भाव से भाई लोगों को भी प्रत्येक पग पर सावधानी और खोजपरक दृष्टि रखनी आवश्यक है। बिना सम्यक् भाव को समझे—बिना मूल को जाने संसार का कोई भी कार्य कोई व्यक्ति नहीं कर सकता।

वृत्ति एवं प्रवृत्ति का संतुलन :

हम साधना के विषय में चर्चा करते हैं। इस विषय में अनेक प्रकार के संकल्प—विकल्प कर लेते हैं, लेकिन जिस साधना-मार्ग पर बढ़ने का हमारा प्रयास होता है, उस पर अपेक्षित रूप से बढ़ नहीं पाते। इसका क्या कारण है ? बन्धुओं, बहुत बार ऐसा होता है, जिसे हम साधना समझते हैं, वह आत्मा के पथ से विरुद्ध अथवा हट कर चलने वाली क्रियाएँ होती हैं। हमारी प्रवृत्ति और वृत्तियों में संतुलन और पर्याप्त तालमेल नहीं हो पाता। हमारी दृष्टि में साधना समझी जाने वाली वह प्रवृत्ति हमें उल्टे पतन की ओर ही ले जाने वाली बन जाती है। अधिकांश में हम सम्यग्दर्शन और सम्यग्बोध की उपेक्षा कर जाते हैं, इसी कारण से ऐसा हो जाता है।

आज हम में से अधिकांश लोग पर को जानते हैं, आत्मा को नहीं। सीधे अर्थ में हम कहें तो हम पर घर को जानते हैं, किन्तु अपने घर के स्वामी को भूल गए हैं। इसी से गीतिका में

कहा है :

पर घर में नित भ्रमत फिरत हूँ अपनो घर ना जाण्यो ।।
पर ने अपनो मान सदा हो, नहीं निज रूप पिछाण्यो ।।

अर्थात् पर घर में हमारा भ्रमण हो रहा है। हमें अपने घर का ही पता नहीं है। आप कहेंगे हमें हमारे घर का कैसे पता नहीं है ? बन्धुओं, आत्मा के अतिरिक्त – साधना के अतिरिक्त सारे ही पर-घर हैं। आत्मा से भटकाने वाली सभी क्रियाओं के प्रति आप सजग हैं पर-घर के प्रति सारी चर्चाएँ करते हैं – अपने घर की प्रवृत्ति से अनभिज्ञ हो। अपने घर की चर्चाएँ नहीं करते। आज व्यवस्थाएँ ही ऐसी बन गई हैं। हमारे पास समय ही नहीं अपनी चर्चा के लिए ! आप अपना दैनिक जीवन देख कर हिसाब लगाएँ। दिन-रात के चौबीस घंटों में अपनी आत्मा कितनी बार याद आई होगी ? आप बाहर का हिसाब तो खूब लगा लेते हो। आत्मा का कभी लगाया ही नहीं। आत्मा का हिसाब लगाकर देखो तो कि हमने अपनी आत्मा का अवलोकन कितनी बार किया ? बहुत से लोगों की दिनचर्या है– 'प्रात: जल्दी उठ कर भगवान का स्मरण करते हैं – प्रभु का नाम ले लेते हैं लेकिन वह भी जल्दी में – भागादौड़ी में लेते हैं। 'माला पूरी करके अमुक काम करना है'– जल्दी से सामायिक पूरी हो तब अमुक जगह पर जाना है' – इस प्रकार का विक्षेप उस प्रभु के नाम में भी आ जाता है।

आप सोचकर देखिए कि अपनी आत्मा का चिन्तन कैसा और कितना हो पाता है। आप को स्पष्टतः ज्ञात होगा कि आप

अपने घर में नहीं हैं, बल्कि पराये घर में हैं। कहिए, आना है अपने घर में ? किसी की है इच्छा ? बन्धुओं, यदि आपसे हम पूछ लें तो हमारे सामने आप भले ही कह दो कि निज के घर में आना है, लेकिन अन्दर की बात तो आप ही जानो। जिस दिन-जिस क्षण यह प्रवृत्ति बनेगी, उसी समय संसार के सब पदार्थ फीके लगने लगेंगे। मुख्य बात तो अपने घर में आने की चाह है – वह चाह जगे तब ही कुछ प्रयास बने।

समस्त लोक परदेश है :

बन्धुओं एक जगह कवि ने कहा है :

"परदेश लोक सारा निज देश सिद्धि स्थल है लोकाग्रासित हमारा प्यारा अनन्त है।"

वह सिद्धालय – वह परमधाम हमारा मुख्य घर है। यदि ना कुछ अर्थात् गौण को छोड़े तभी मुख्य को प्राप्त किया जा सकता है। अविनाशी तत्त्व को – अपने घर को – निज के आत्म स्वरूप को प्राप्त करना है तो बिना सम्यग्बोध के उसकी उपलब्धि नहीं होगी।

"अपने को ले आएं" :

एक प्रसंग मैंने पढ़ा था। आमेर का राजा मानसिंह था। एक बार वह दूसरे राज्य की यात्रा करके वापस स्वदेश आ रहा था। उसने सभी रानियों को संदेश भिजवाया कि किसी को कुछ आवश्यकता हो तो मँगवाने के लिए संदेश भिजवा दें। पहली रानी ने कंगन; दूसरी ने अंगूठी तीसरी ने कुछ और यानि इसी

प्रकार की वस्तुएँ जो मनपसन्द थी मंगवाने की खबर भिजवादी। चौथी रानी ने संदेश कहलाया कि आप तो स्वयं पधार जाएँ, मुझे अन्य किसी वस्तु की आवश्यकता नहीं है। जिसने जो वस्तु मंगवाई थी, वह उसे भिजवा दी गई। छोटी रानी ने तो राजा से स्वयं आने के लिए संदेश भेजा था, सो राजा मानसिंह यथा समय दिल्ली से लौटकर सीधे ही छोटी रानी के पास गया। शेष बड़ी रानियां छोटी रानी से ईर्ष्या करने लगीं। उन्होंने परस्पर कहा – "हमको तो हमारी मँगवाई हुई एक-एक ही वस्तु भेज कर राजा सारा सामान जो भी लाए हैं वह छोटी रानी को देने के लिए उसके महल में गए हैं।" आखिर उनसे रहा नहीं गया। वे सभी रानी राजा को इस पक्षपात के लिए उलाहना देने लगीं। तब राजा मानसिंह ने कहा – "जिसने जो मंगाया, यदि वह उसे न मिले तो वह नाराज होगा या नहीं? तुम्हारी इच्छित वस्तुएँ तुम्हें मिल गईं। यदि मैं वे सब वस्तुएँ नहीं भेजता – तुम्हें तुम्हारी मनचाही चीज न मिलती तो तुमको कैसा लगता? छोटी रानी की इच्छित वस्तु तो मैं ही था अतः अपने आप को उसकी मांग के अनुसार मैं उसे देने गया था।"

इस प्रसंग से समझने की बात यह है कि हम बहुमूल्य के बदले साधारण चीजें मांग लेते हैं। रानी ने राजा को ही मांगा तो राजा के साथ उसका सारा वैभव स्वतः ही उसे मिल गया।

करणीय से अन्य कर रहे हैं :

बन्धुओं, आपने कभी सोचा कि यह कितना कीमती जीवन

आपको प्राप्त हुआ है और आप इसका क्या उपयोग कर रहे हैं ? जो आप कर रहे हैं वह अच्छा या करणीय से विपरीत है, इसका ठीक प्रकार चिन्तन करना बहुत आवश्यक है। करने योग्य नहीं कर रहे हैं – उससे कुछ निरर्थक किए जा रहे हैं। संसार में रहते हुए – 24 घंटे दूसरे कार्य करते हुए – कम से कम 24 मिनिट तो अपनी आत्मा की भी याद आनी चाहिए। आप कहेंगे 'समय ही नहीं मिलता' – ठीक है – बन्धुओं 24 घंटे आपके पास होते हैं, उनका उपयोग किस रूप में सही प्रकार हो, यह तो सोचने का विषय है या नहीं ? आप कार्य करते हैं – विभिन्न प्रकार के कार्य आपको करने होते हैं, तो विश्राम की भी जरूरत होती है। 24 घन्टों में से 8 घन्टे नींद के और विश्राम के रख लीजिए – 8 घन्टे आपके व्यापार-व्यवसाय और अन्य कार्यों के लिए सुरक्षित हुए। बाकी बचे 8 घन्टे उनका क्या किया ? 3 घंटे भोजनादि के गपशप करना। चलो, 3 घंटे बातों के लगा लो। 2 घंटे तो अपने आपको दो। 'मैं पर घर में नहीं रहूँगा' यह चिन्तन कभी बना ? बन्धुओं बहुमूल्य समय बीतता जा रहा है। जीवन के कितने वर्ष यूं ही व्यतीत हो गए ? कोई 40 कोई 50 कोई 60 और कोई-कोई इससे भी अधिक वर्ष अपने जीवन के गँवा चुके हो। हम तो इसे गँवाना और खोना ही कहेंगे क्योंकि अभी तक बाहर में घूम रहे हो। अपने घर में आने का प्रयास नहीं कर पाए।

गन्तव्य कुछ : साधन कुछ :

एक प्रसंग मैं कई वार कहा करता हूँ। एक व्यक्ति ट्रेन में रोता चला जा रहा था। ज्यों-ज्यों गाड़ी स्पीड पकड़ती है, उसी अनुपात से उसके रोने की स्पीड भी बढ़ती जाती है। कितने ही यात्रियों ने पूछा – "भाई, क्या बात है? क्यों रो रहे हो? तुम्हारा कोई प्रिय जन पीछे छूट गया है या कुछ सामान छूट गया है? हमें बताओ, ताकि जंजीर खींचकर गाड़ी रोकी जा सके।" सभी इस प्रकार उससे पूछते, पर वह तो लगातार रोए ही जा रहा था। कुछ भी नहीं बताता, बस रोता ही जाता है। अन्तिम स्टेशन आने पर सभी उतर गए। उसके निकट एक व्यक्ति गाड़ी चलने से अब तक उसको रोते हुए देख रहा था। वह वोला – "भाई, अब तो रोना बन्द करो। 24 घन्टे से रो रहे हो, अब तो बता दो आखिर बात क्या है?" वह रोने वाला व्यक्ति बोला – "भैया, मुझे जाना तो वम्बई था और मैं कलकत्ता जाने वाली गाड़ी में बैठ गया, इसी से रो रहा था।"

बन्धुओं, आपको लग रहा होगा कि कितना मूर्ख था वह! यदि उसे पता चल गया था कि गलत गाड़ी में बैठा है, तो वहीं पर उतर जाता दूसरी गाड़ी पकड़ लेता। उस व्यक्ति को तो आप बुद्धू और नासमझ कह रहे हो, जरा अपनी ओर भी देखो आप भी निरन्तर विपरीत दिशा में चले जा रहे हैं। आपको पता है कि जिस प्रवृत्ति में आपका व्यवहार है, वह गलत है– विपरीत दिशा में है और बन्धनकारी है, फिर भी उसी लीक पर

चलते जा रहे हैं। अपने उद्देश्य सुख-शान्ति और मुक्ति के बनाते हो, लेकिन उन उद्देश्यों की पूर्ति के साधन क्या हैं – यह नहीं देखते। सन्त आते हैं – जागृति दे जाते हैं, किन्तु वह जागृति थोड़े समय की होती है। जब तक हम स्वधाम में नहीं पहुँचेंगे, तब तक हम परमात्मा तक नहीं पहुँच सकते हैं।

आर्य वज्रस्वामी का उदाहरण :

आपने आर्य वज्रस्वामी का नाम सुना होगा। उनको जन्म लेते ही वैराग्य आ गया था। आप में से किसी को आया क्या? बन्धुओं, वर्ष और जन्म बीतते जाते हैं – वैराग्य नहीं आ पाता। आर्य वज्रकुमार के पिता धनगिरि ने उनके जन्म से पूर्व ही संयम ले लिया था। जब पुत्र जन्म का महोत्सव मनाया जा रहा था, तब नवजात वज्रकुमार ने सुना–लोग कह रहे थे– "यदि इस बालक के पिता धनगिरि ने दीक्षा न ली होती तो उनके द्वारा यह समारोह कितना भव्यता से सम्पन्न होता!" बालक वज्र को तो जन्मतः ही बुद्धिमत्ता और वैराग्य प्राप्त था। उन्होंने सोचा – "मैं भी अपने पिता के शुभ पथ का अनुसरण करूँ।" इसके लिए माता सुनंदा का मोहभाव हटाने को उन्होंने अनवरत रूप से रोना शुरु कर दिया। सुनंदा चुप कराने का प्रयत्न करते हार जाती और खीझ कर कहती–"इस बालक ने तो मेरा खाना-पीना-सोना मुश्किल कर दिया है। चुप ही नहीं होता।" सभी बच्चे को चुप कराने की बहुत चेष्टा करते, मगर वह रोता ही रहता। एक क्षण भी चुप न होता था।

उधर आचार्य सिंहगिरि के पास धनगिरि मुनि अपने ांसारिक साले शमित मुनि के साथ ज्ञानार्जन और तपानुष्ठान कर रहे थे। एक दिन गोचरी जाते हुए आचार्य सिंहगिरि ने ाुभ शकुन देखे और विचार करके मुनि धनगिरि से कहा – 'आज भिक्षा में जो भी सचित-अचित अथवा मिश्र मिले, वह बिना संकोच के ले लेना।" दोनों मुनि सर्वप्रथम सुनंदा के घर पधारे। वहां पर वज्रकुमार का रुदन और सुनंदा की झुँझलाना ूर्ववत् जारी थे। सुनंदा ने मुनिद्वय को देखा तो बोली – "तुम्हारे इस पुत्र ने मेरे नाक में दम किया हुआ है। आप ने तो दीक्षा ले ली मैं अकेली कहां तक यह मुसीबत झेँलू। आप इसे ले जाइये। मैं तो भर पाई।" आचार्य सिंहगिरी के शब्द तत्काल मुनि धनगिरि को स्मरण आ गए – "सचित-अचित-मिश्र जो मिले ले लेना।" वे बोले – "अभी तो तुम कह रही हो, लेकिन बाद में ममता जाग उठी और तुम अपने बालक को वापस मांगोगी तो नहीं ले सकोगी"। वह कहती है – "मुझे यह बालक नहीं चाहिए, मैं आपको इसे बहराती हूँ।" मुनि धनगिरि ने झोली खोल दी। सुनंदा ने बालक वज्र को मुनि की झोली में डाल दिया। मुनि धनगिरि ने पुनः कहा – "तुम्हारा भाई मुनि शमित और ये सभी उपस्थित व्यक्ति साक्षी हैं तुम अपनी बात याद रखना। मुनि के पात्र में बहराई हुए वस्तु वापस नहीं ली जाती है।" सुनंदा ने अपनी बात पर अडिग रहने का वचन दिया।

मुनि धनगिरि ने झोली उठाई। आश्चर्य देखिए बन्धुओं,

कि मुनि के हाथ में जाते ही बालक ने रोना बंद कर दिया। दोनों मुनि आचार्य सिंह गिरि के पास पहुँचे। बालक के वजन से मुनि धनगिरि का हाथ कुछ नीचे को लटक रहा था। आचार्य ने दूर से देखकर कहा—"अरे धनगिरि ये वज्र जैसा कठोर आज झोली में क्या ले आए हो ?" धनगिरि मुनि ने सामने आकर झोली नीचे रखी। उसमें वज्र कुमार हँसता हुआ लेटा था। आचार्य द्वारा 'वज्र' शब्द का उच्चारण हुआ था अतः उसी के कारण बालक का नाम वज्रकुमार रखा गया था। आचार्य श्री ने सब वृतान्त पूछा और बालक के पालन-पोषण के लिए साध्वीमंडल को वह बालक सौंप दिया। श्राविकाओं के द्वारा साध्वियों के निरीक्षण में बालक पलने लगा। जब साध्वियाँ अपना स्वाध्याय करतीं तो बालक वज्रकुमार सुनता रहता। जन्म से ही प्रतिभा का धनी होने से बालक वज्रकुमार ने ग्यारह अंगशास्त्रों का ज्ञान प्राप्त कर लिया और उनको वह सब कण्ठस्थ हो गया।

वज्रकुमार की माता सुनंदा ने जब साध्वियों के पास अपने पुत्र को देखा और रोये बिना बड़े ही मनोहर भाव से बालक्रियाएं करते हुए वह वज्रकुमार को देखती तो उसे अपनी गलती पर बड़ा ही पश्चाताप होता। वह बिल्कुल नहीं रोता था। माँ की ममता जागी और वह बालक को अपने पास वापस लेने के लिए प्रयत्न करने लगी। उसको उसके वचन की याद दिलाई गई किन्तु वह हठ करती रही कि मेरा पुत्र मुझे लौटा दो। तब आचार्य सिंह गिरि ने संघ के एवम् राजा के समक्ष एक बात

रखी – "तुम भी बैठो, मैं भी बैठता हूँ। यह बालक जिसकी ओर सब लोगों की उपस्थिति में आ जाए वही इसे लेगा।" बात तय हो गई। सब बैठे। सुनंदा ने खिलौने वगैरह नाना प्रलोभन उस बालक को दिखाए किन्तु वह उसकी ओर न आया। अब आचार्य की बारी थी आचार्य ने रजोहरण दिखाकर कहा – "यदि अपनी कर्मरज को झाड़ना चाहते हो तो यह ले लो।" बालक झट से उनकी ओर आ गया।" सुनन्दा निराश हो गई। उसके भाई और पति तो प्रथम ही दीक्षित हो चुके थे, पुत्र भी जन्म वैरागी हो गया था। अतः उसने भी आचार्य श्री सिंहगिरि से दीक्षा ग्रहण करके संयमी जीवन अपना लिया।

बालक वज्रकुमार संघ और साध्वियों की देख रेख में बड़ा होता रहा। जब वज्रकुमार आठ वर्ष का हो गया, तब आचार्य सिंहगिरि ने उसे दीक्षा पच्चक्खा दी और अब वह मुनियों के साथ ही रहने लगा।

वज्रमुनि की परीक्षा : लब्धि मिलना :

एक बार आचार्य सिंहगिरि ने अवन्ती की ओर प्रस्थान किया वज्रमुनि भी साथ थे। यकायक आकाश में उमड़-घुमड़ कर घनघोर घटाएँ आईं और वे हजार-हजार धाराओं के रूप में बरस पड़ीं। कल-कल, छल-छल कर नदी नाले बहने लगे। आचार्य के आदेश से सन्त सन्निकट की किसी गुफा में ठहर गए। वर्षा लम्बे समय तक चलती रही। भयानक जंगल था। मुनियों

के उपवास चलते रहे। वज्रमुनि बालक थे पर क्षुधा से आकुल-व्याकुल न हुए। सदा ध्यान-स्वाध्याय में लगे रहे थे। मुनि वज्र के पूर्वभव के एक मित्रदेव ने वज्रमुनि को परीक्षा लेने के विचार से सार्थवाह का रूप बनाया और आर्य सिंहगिरि के पास पहुँचा। उस देव ने अपनी दिव्य शक्ति से वर्षा रोक दी थी। उसने आचार्य प्रवर से निवेदन किया—"भगवन्, मैं आगे जा रहा था, यहां पर भोजन के लिए रुका। आप श्री को यहां देखकर मुझे अत्यन्त आह्लाद हुआ है। आप कृपा करके मुझे आहारदान का लाभ प्रदान करें।"

आचार्य श्री ने वज्रमुनि को आहार के लिए प्रेषित किया। मुनि वज्र सार्थवाह के साथ चलने लगे। देव ने मुनि वज्र की परीक्ष-हेतु बारीक बारीक बूँदें गिराना प्रारम्भ किया। मुनि वज्र वहीं वृक्ष के नीचे रुक गए। जब बूँदें बंद हो गईं तो वे पुनः आगे बढ़े। सार्थवाह के साथ उसके स्थान पर जाकर वहां के निराले ठाठ-बाट देखे तो मुनि वज्र के मन में सन्देह उत्पन्न हुआ कि यह सार्थवाह मनुष्य नहीं हो सकता। अपने अनुभवों के आधार पर उन्होंने अपनी पैनी दृष्टि से देखा कि उसके नेत्र अनिमेष हैं और पैर पृथ्वी को स्पर्श नहीं कर रहे हैं। उन्होंने सार्थवाह से कहा – "मैं आपका आहार ग्रहण नहीं कर सकता, क्योंकि देवपिण्ड साधु के लिए अकल्पनीय होता है।" देव ने संतुष्ट और प्रसन्न होकर मुनि के चरणों में मस्तक झुका दिया और मुनि वज्र को वैक्रिय-विद्या समर्पित की।

दूसरी वार उसी देव ने पुनः मुनि वज्र की परीक्षा ली। उसने मुनि वज्र को बढ़िया घेवर बहराने का प्रयत्न किया। मुनि वज्र की सूक्ष्म प्रज्ञा ने जान लिया कि यह देवमाया है, अतः उन्होंने घेवर नहीं लिए। वज्र मुनि की कठोर चर्या से देव अत्यन्त प्रभावित हुआ। उसने उन्हें आकाश गामिनो विद्या प्रदान की। विद्या के दिव्य प्रभाव से वे मानुषोत्तर पर्वत तक बिना किसी रुकावट के जा सकते थे।

मुनि वज्र की अवस्था लघु थी, पर वे बहुत ही सजग और कुशल थे। बुद्धि तीव्र थी किन्तु पढ़ने में उदासीन थे। अन्य साथी मुनि सोचते – "यह क्रिया में तो अत्यन्त कुशल हैं, पर ज्ञानाराधना में कमजोर हैं।" उनका ज्ञान अदत्तश्रुत ज्ञान था। किसी को उसका पता नहीं था। सब मुनि वज्र कुमार को प्रेरणा देते और ज्ञानाराधन करने को कहते, किन्तु वे चुपचाप सुनते रहते न तो कुछ कहते और न ही कोई प्रयास करते। सब मुनियों का विचार था कि यह उनकी ज्ञान के प्रति उपेक्षा है, किन्तु सत्य तथ्य तो यह था कि उन्होंने साध्वियों से स्वाध्याय सुनकर सभी शास्त्र कंठस्थ कर लिए थे। अतः वे मौन रहते।

एक दिन आचार्य सिंहगिरि शौच-हेतु बाहर पधारे हुए थे और कुछ श्रमण भिक्षा के लिए गए हुए थे। उपाश्रय में वज्र मुनि अकेले थे। जब कभी आचार्य सिंहगिरि अन्य सन्तों को वाचनी देते थे, उस समय भी वज्रमुनि अपने आप में ही व्यस्त

रहा करते। ज्ञान प्राप्ति में उन्हें ढीला-ढाला देखकर अन्य मुनि कहा करते – "यह वज्र मुनि तो कुछ पढ़ता ही नहीं है। कुछ ज्ञान सीखता ही नहीं है। संयम-क्रिया के पालन में इतना सावधान रहता है, मगर ज्ञानार्जन में उपेक्षा करता है।" इसी प्रकार की बातें अन्य मुनि परस्पर करते, लेकिन वज्रमुनि ध्यान न देते थे।

उस दिन जब वे उपाश्रय में अकेले थे तब उनके मन में भाव उद्बुद्ध हुआ कि मैं भी किसी को वाचनी दूँ। किन्तु उन्होंने सोचा – "आचार्य श्री की भांति वाचनी देने को तो मन करता है, किन्तु वाचनी किसे दूँ। मेरा कोई शिष्य भी नहीं है और इस समय उपाश्रय में कोई सन्त भी उपस्थित नहीं है।" वज्र मुनि के मन में किसी को वाचनी देने की प्रबल इच्छा हो रही थी। अतः उन्होंने एक उपाय सोचा। उन्होंने सभी सन्तों के भंजेप-करणों को इकट्ठा करके उन्हें अपने सामने रख लिया। स्वयं बीच में बैठ गए और उन वस्तुओं को ही अपने शिषय समझकर उच्च स्वर से वाचनी देनी प्रारम्भ कर दी। वे अंग सूत्रों के गम्भीर रहस्यों को प्रकट करके इस प्रकार से वाचनी दे रहे थे मानो सचमुच कोई आचार्य बोल रहे हों और सामने शिष्य बैठे हुए वाचनी ले रहे हों। उन्हें समय का भी ध्यान नहीं रहा। इतने में आचार्य सिंहगिरि शौचभूमि से वापस पधार गए। वाचनी के स्वर उनके कानों में पड़े। उन्होंने सोचा–"कोई संत गोचरी से जल्दी वापस आ गये हैं और अपना स्वाध्याय आदि कर रहे हैं।" थोड़ा निकट आए तो वज्र मुनि का स्वर पहचान गए। आचार्य

ने सोचा इतनी सूक्ष्म व्याख्याएँ और ऐसा गहन ज्ञान। यदि मैं अचानक जाऊँगा तो इसको व्यवधान होगा।" ऐसा सोच कर वे जोर से 'निस्सही', निस्सही' बोले अर्थात् 'मैं बाहर के आवश्यक कार्य से निपट कर आ गया हूँ।" जैसे ही यह आवाज वज्र मुनि ने सुनी, उन्होंने बड़ी तत्परता से सभी भंडोपकरण यथास्थान रख दिए और सजग होकर खड़े हो गए। कुछ आगे जाकर आचार्य को प्रणाम करके कहा – "पधारिये, भगवन्!"

आचार्य ने सोचा – "यदि इसके ज्ञान को अन्य सन्तों के सामने रखूँगा तो वे विश्वास नहीं कर पायेंगे।" इस प्रकार विचार कर वे बोले – "मैं कुछ सन्तों के साथ दूसरे ग्राम में विचरण हेतु जाना चाहता हूँ।" इस पर वहां विराजने वाले और सन्त कहने लगे – "गुरुदेव, आप पधार जायेंगे तो हमें वाचनी कौन देगा?" तब आचार्य बोले – "तुम सभी को वाचनी वज्र मुनि देगा।" वे सभी शिष्य गुरुदेव के प्रति विनम्र-विनीत थे अतः आचार्य जी की आज्ञा शिरोधार्य कर ली, किन्तु मन ही मन सब सोच अवश्य रहे थे – "यह वज्र मुनि कुछ पढ़ते तो हैं नहीं फिर हमें वाचनी किस प्रकार देंगे?"

आचार्य के वहाँ से विहार कर जाने के बाद वज्र मुनि अन्य मुनियों को वाचनी देना प्रारम्भ करते हैं, तो उनकी सूक्ष्म व्याख्याओं को सुन कर सभी आश्चर्यचकित रह जाते हैं। उनकी शैली को देखकर सभी मुनि बहुत प्रसन्न होते हैं-और सोचते हैं "आचार्य

महाराज जितने लेट पधारें, उतना ही अच्छा है। हमको वज्र मुनि द्वारा दी गई वाचनी से बड़ा आनन्द आ रहा है।" खैर, आचार्य जी यथा समय वापस लौटे, शिष्यों से जानकारी करते हुए पूछा – "वाचनी का क्रम कैसा चल रहा है ?" सभी शिष्यों का एक ही उत्तर था – "गुरुदेव वाचनी का क्रम बहुत ही अच्छा चल रहा है। हमें पूर्ण सन्तुष्टि है। आप इन्हें हमारा वाचनाचार्य नियुक्त कर दें तो बड़ी कृपा होगी।"

आचार्य जी बोले – "इनका ज्ञान स्वयं श्रुत है। अभी इनको वाचनी नहीं दी है। पहले इनको वाचनी दूंगा। इनको अभी अध्ययन की आवश्यकता है।" तब आचार्य उन्हें ज्ञानार्जन कराते हैं। बन्धुओं, वज्र मुनि ने स्वयं ही सब ज्ञान प्राप्त किया था और उन्हें जन्म के साथ ही वैराग्य उत्पन्न हो गया था। ऐसा अलौकिक ज्ञान था उन्हें ! आचार्य श्री ने जब वज्रमुनि को विधिवत् अध्ययन कराना आरम्भ किया तो उनकी तेजस्विता को देखकर वे बहुत पुलकित हुए। आचार्य ने उन्हें उज्जैनी में आचार्य भद्रबाहु स्वामी के पास 10 पूर्वों का अध्ययन करने के लिए भेजा। वज्र मुनि गुरु की आज्ञा को शिरोधार्य करके 'तथास्तु' कह कर चल दिए।

आचार्य भद्रबाहु को स्वप्न :

उसी रात्रि आचार्य भद्रबाहु को स्वप्न आया कि 'कोई मुनि मेरे दूध से भरे कटोरे को पी रहा है।" प्रातः उठ कर वे सभी

शिष्यों को अपना स्वप्न बताते हुए बोले – "मैं सोच रहा था कि कोई मेरे दस पूर्वों के ज्ञान को पचाने वाला सुपात्र मिले, वह मेरा नीर-क्षीर ज्ञान लेने वाला – उसे धारण करने और पचाने वाला सुपात्र मुझे मिल गया है। स्वप्न में इस बात की पूर्व सूचना मुझे हो गई है। यह प्रसंग चल ही रहा था कि वज्र मुनि वहां पहुँच गए। वन्दनादि करके अपने आने का उद्देश्य और आचार्य जी की आज्ञा बताई। भद्रबाहु स्वामी अपने स्वप्न को सत्य देख कर बहुत हर्षित हुए।

वहां रह कर बड़े विनयभाव से वज्रमुनि ने दस पूर्वों का ज्ञान प्राप्त किया और वापस आचार्य सिंहगिरि के पास पहुँचे आचार्य जी ने उन्हें सब प्रकार योग्य जानकर अपना उत्तराधिकारी नियुक्त करके संथारा लिया। अब वे आचार्य वज्र स्वामी कहलाने लगे।

एक बार विचरण करते हुए वे शिष्यों सहित पाटिलीपुत्र पधारे। वहाँ पर उनकी कुछ साध्वियाँ ठहरी हुई थीं। वे भी अन्यत्र किसी स्थान पर ठहर गए। वहां के धन नामक सेठ की कन्या रुक्मिणी आचार्य वज्र को देखकर उनके तेजस्वी चेहरे की ओर एकटक निहारती ही रह गई। उसने अपने मन में संकल्प कर लिया – "यही मेरे पति होने चाहिएँ।" अपना भाव वह अन्य महासतियों पर प्रकट करती है। उसकी ऐसी बात सुनकर सब साध्वियाँ उसे समझाने लगीं – "तुम्हें गुरुदेव के विषय

में ऐसा विचार नहीं करना चाहिए। उनके प्रति हमारा पूज्य-भाव ही रहना चाहिए, अन्य कुछ नहीं।" रुक्मिणी पर साध्वियों के समझाने का कुछ भी प्रभाव नहीं हुआ। उसने तो अपने पिता से भी कह दिया – "मैं तो विवाह इन्हीं के साथ करूँगी।" पिता वहुत प्रकार से समझाते हैं। रुक्मिणी के पिता नगर के प्रतिष्ठित व्यक्ति थे। सद्वृत्तिधारी श्रावक थे। उन्होंने कई प्रकार से अपनी पुत्री को समझाया, किन्तु रुक्मिणी अपने हठ पर अड़ी रही। आगे उसके पिता आचार्य वज्र से क्या कुछ कहते हैं, यह विषय समय पर ही आपके समक्ष आ सकेगा।......

25-8-89

सच्ची शान्ति प्राप्त करनी है तो आत्म विरोधी तत्वों को हमें अपने से दूर करना होगा। यह आत्म दर्पण पर वैभाविक भावों की जो धूल जमी है, उसे दूर करना होगा, तभी सच्ची शान्ति हमें मिल पाएगी। विभावों से लिप्त रहते हुए सुख और शान्ति की इच्छा करना ठीक वैसा ही होगा जैसे एक व्यक्ति खूब मिर्च, मसाले वाली चीजें खा लें- धूप में बैठ जाए और कहे कि मुझे शान्ति और साता मिल जाए। यदि हमें शान्ति चाहिए तो जो अशान्ति के कारण है, सबसे पहले उन्हें हटाना होगा।

'सच्ची शान्ति की खोज'

तर्ज : जय बोलो त्रिशलानन्दन की ....

प्रभुवर तारे द्वारे आव्यो, हूँ ज्ञान पिपासा संग लाव्यो ।
संसार नो ज्ञान मड्यो छे घणो, मने जोईए ज्ञान ओ मुक्ति तणो ।
मुक्ति नी झंखणा हूँ लाव्यो ।। प्रभुवर —
संसार ना सुख मां हूँ राचो छोड्यो मुक्ति नो सुख साँचो ।
एना थी दुःख घणो पाम्यो ।। प्रभुवर —
हवे ज्ञान प्रभु एवो आपो, अन्तर आतम नो सुख दाखो ।
नश्वर दुःख थी हूँ घबराव्यो ।। प्रभुवर —
जग बन्धन थी उपराम वरूं, संयम पंथे हूँ प्रयाण करूँ ।
अन्तर मां भाव एवुं जाग्यो ।। प्रभुवर—
परमात्म भाव नी लो जागे, अन्धारु कषायों नुं भागे ।
मन आतम 'शान्ति' नी चाह लाव्यो ।। प्रभुवर —

शान्ति की प्राप्ति कैसे :

गीतिका की पंक्तियों में परमात्मा के चरणों में आत्म-निवेदन प्रस्तुत किया गया है । जब कभी हम साधना के मार्ग में बढ़ते हैं, तब हमारा मौलिक उद्देश्य होता है कि हमें आत्मज्ञान

हो। हम जीवन की अन्तिम मंजिल को प्राप्त करें। इतनी चाह होने पर भी हम सही मार्ग पर बढ़ नहीं पाते हैं। सभी धर्म प्रायः इस बात पर बल देते हैं कि मनुष्य-मात्र को दुःखों से मुक्ति मिले। यह आत्मा अनन्तकाल से दुखों से बंधी हुई है। हम जो प्रार्थना करते हैं, उसमें हमारा उद्देश्य यही होता है कि हम शाश्वत शान्ति प्राप्त कर लें। यह भी हम जानते हैं कि मात्र शब्दों के उच्चारण के माध्यम से ही हमें वह शान्ति प्राप्त नहीं हो जाएगी। सच्ची शान्ति प्राप्त करनी है तो आत्म विरोधी तत्त्वों को हमें अपने से दूर करना होगा। यह आत्म दर्पण पर वैभाविक भावों की जो धूल जमी है, उसे दूर करना होगा, तभी सच्ची शान्ति हमें मिल पाएगी। विभावों से लिप्त रहते हुए सुख और शान्ति की इच्छा करना ठीक वैसा ही होगा जैसे एक व्यक्ति खूब मिर्च, मसाले वाली चीजें खाले – धूप में बैठ जाए और कहे कि मुझे शान्ति और साता मिल जाए। यदि हमें शान्ति चाहिए तो जो अशांति के कारण हैं, सबसे पहले उन्हें हटाना होगा। अशांति के कारण क्या ?

बन्धुओं, हम सभी यह जानते हैं कि हम जिन कार्यों को कर रहे हैं, वे अशान्ति देने वाले हैं। जो कार्य शांति देने वाले होते हैं, उन की ओर तो हमारा ध्यान भी नहीं जाता है। आत्म शान्ति के कार्यों की ओर तो हमारा रुझान ही नहीं हो पाता है। आम तौर पर आदमी धन में, प्रतिष्ठा में, वैभव में और अहं की तुष्टि में शान्ति का स्थान सोचता है। अतीत साक्षी है –वर्तमान

साक्षी है कि धन-वैभव से किसी को भी शांति प्राप्त नहीं हुई है। आप कहेंगे – 'जिसने सुख-सुविधा के साधन जुटाए हैं, क्या वे संतुष्ट नहीं हैं ?' बन्धुओं, सुख-सुविधा के कितने ही साधन क्यों न जुटालें, उनके द्वारा हम कभी भी आत्म शान्ति की उपलब्धि नहीं कर सकते।

ज्ञानी जन कहते हैं कि यह एक भ्रान्त धारणा फैली हुई है कि धनवान् सुखी है। वास्तव में धनी व्यक्ति तो सबसे अधिक अशांत होता है। बाहर में आप उसे सुखी समझ लेते हैं, जिसकी बाह्य दौड़ है, वह कभी भी सुखी नहीं हो सकता। आन्तरिक दौड़ में रमने वाला ही मानसिक और आत्मिक शान्ति को प्राप्त कर सकता है। शास्त्रकार कहते हैं :–

जहा लाहो तहा लोहो, लाहा लोहो पवड्ढई।
दो मासकयं कज्जं, कोडीए विन निट्ठयं॥
कसिणं पि जो इमं लोयं पडि पुन्नं दलेज्ज एक्कस्स।
तेणावि से ण संतुस्से, इइ दुप्पूरए इमे आया॥

क्या कहा बन्धुओं ? जहां लाभ होने लगता है, वहीं पर लोभ का साम्राज्य फैलता जाता है। शास्त्रों में कपिल ब्राह्मण का प्रसंग आता है, जिसका लोभ दो माशे स्वर्ण से बढ़कर अनंत हो जाता है और फिर उसको आत्म बोध होता है। लाभ और लोभ की परिधियों से निकल कर तब वे प्रवज्या धारण करके मुनि बन जाते हैं। लोभ को 'पाप का बाप' कहा जाता है। और

लोभ की सीमा बताई है कि किसी को समस्त संसार का ऐश्वर्य भी दे दिया जाए, तब भी उसे सन्तुष्टि नहीं होगी, क्योंकि मिलने वाले लाभ के साथ-साथ लोभ भी बढ़ता ही जाएगा। व्यावहारिक भाषा में इसे निन्नयानवे का चक्कर भी कहते हैं। एक प्रसंग इसी प्रकार का बना। किस प्रकार धन का लोभ सीधे-सादे व्यक्ति को भी शान्त से अशान्त बना देता है, यह आप सुनिए।

निन्नयानवे का चक्कर :

एक सेठ जी की धर्मपत्नी पास बैठकर उनको भोजन कराती जा रही थी। अनेक प्रकार के व्यंजन सेठ के सामने परोसती हुई सहसा वह कहने लगी – "मैं आपका इतना ख्याल रखती हूँ, फिर भी आप दुबले क्यों होते जाते हो ? सामने झोंपड़ी में रहने वाला मजदूर कितना स्वस्थ और मस्त रहता है ! आपको क्या चिन्ता लगी रहती है, जो आप निरन्तर कमजोर होते जा रहे हो ?" बन्धुओं, सुख और मस्ती कहाँ हैं ? वह है सन्तोष में। धन-दौलत में सुख नहीं है। अपनी पत्नी की बात के जवाब में सेठ जी बोले – "मेरे साथ में निन्नयानवे का चक्कर लगा है, वह उसको नहीं लगा, इसी कारण से वह मस्त रहता है।" सेठ का अभिप्राय यह था कि मेरे पास अनेकों प्रकार के कार्य हैं, जिनमें मैं उलझा रहता हूँ। मुझे कितनी ही चिन्ताएँ लगी रहती हैं। उसको वह सब झंझट नहीं है, सो वह चिन्ता से मुक्त रहता है। सेठ ने कहा–"उसको निन्नयानवे का चक्कर नहीं लगा, इस कारण से वह खुश रहता है।" सेठानी समझ न सकी कि यह निन्नया-

नवे का चक्कर क्या होता है। कुछ क्षण तो वह अपने में ही उलझी रही, जब समाधान न कर सकी तो सेठ से कहने लगी – "आप मुझे स्पष्ट बताओ कि निन्नयानवे का चक्कर क्या बला है?" सेठ जी ने कहा–"ठीक है, बता दूंगा। जैसा मैं कहूँ वैसा करती जाना। सब समझ में आ जाएगा।"

उसके बाद सेठ ने सेठानी को एक थैली में 99 रुपये रखकर वह थैली पकड़ाकर कहा –"जब वह मजदूर अपने काम पर चला जाए, तब तुम यह थैली उसकी झोंपड़ी में डाल आना।" बन्धुओं, वह तो गरीब मजदूर था– उसके पास कोई माया तो थी नहीं जो उसे चोरी का डर होता। डर होता है माया को– काया को क्या डर ? सो, वह तो अपनी झोंपड़ी को ऐसे ही खुली छोड़ कर अपने काम पर चला जाता था।

सेठानी उसकी झोंपड़ी के पास गई। पहले उसने इधर-उधर देखा-कहीं कोई देख तो नहीं रहा- किसी ने देख लिया तो समझेगा कि सेठानी न जाने क्या करने आई है। सारी इज्जत मिट्टी में मिल जाएगी। लोग कहेंगे सेठानी एक मजदूर की झोंपड़ी में क्या करने आई है – वह इधर-उधर दृष्टी दौड़ाकर संतुष्ट होती है कि चलो कोई भी देखने वाला नहीं है। आश्वस्त होकर वह जल्दी से झोंपड़ी में प्रवेश करती है और उस थैली को झोंपड़ी में रखकर फौरन अपने घर चली आती है। उस मजदूर की झोंपड़ी में ताला चावी कुछ नहीं – उसके पास कुछ ऐसा है ही नहीं कि उसको ताला लगाने की आवश्यकता पड़े। बन्धुओं, डर माया को होता है, काया को नहीं।

बस्तर जिले का प्रसंग :

एक वार हम वस्तर के क्षेत्र में विचरण कर रहे थे। हम उस तरफ और भी आगे जाना चाहते थे, किन्तु साथ के श्रावक कहने लगे –"म. सा., आप उधर आगे न जाएँ। उधर बड़े ही खूँखार आदिवासी लोग रहते हैं जो रास्ता चलते हुए व्यक्ति पर भी तीर चलाते हैं।" उन्होंने बहुत रोका, मगर हमने तो उस क्षेत्र में जाने का सकल्प कर लिया था। हम चाहते थे कि जिन क्षेत्रों में कभी कोई सन्त पहुँचे नहीं, वहाँ के भाई-बहिन धर्म-कर्म को कुछ जानते समझते नहीं। अतः ऐसे क्षेत्रों में धर्म जागरण करना हमें उचित लगा। श्रावक लोग तो हमसे यहां तक वोले – "म. सा., वे लोग बड़े खतरनाक हैं, कहीं आपको कुछ हो गया तो क्या होगा?" हमने कहां – "हमारे ऊपर आचार्य भगवन् का वरद हस्त है, हमें कुछ भी नहीं होगा।" हम आगे बढ़ने लगे और वन्धुओं, हमने अपनी आँखों से उनके पास ऐसे विष बुझे तीर देखे कि एक ही तीर से शेर मर जाए। बहुत से आदिवासी पत्तों को ही कमर में लपेटे रहते हैं। कपड़े वगैरह नहीं पहनते और संकेतों से हमारी बात समझते थे क्योंकि उनको हमारी भाषा और हमें उनकी भाषा समझ में नहीं आती थी।

वास्तव में वे आदिवासी वैसे ही खूँखार थे जैसा कि हमें वताया गया था, लेकिन हमें भगवान-भगवान कहकर प्रणाम करते थे। वे महाराज-वहाराज कुछ नहीं जानते थे। जब भी हम उधर से निकलते तो वे 'भगवान' कहकर हमारे आगे लोट जाते

थे। वहाँ पास ही उन आदिवासियों के गुरू का आश्रम था। वह गुरू जिसे वे बाबा लखम दास कहते थे – वह बाबा खुद हमारे पास आए और कहने लगे –"आपको आश्रम पर चलना पड़ेगा।" हमने सुना था कि उन बाबा के आश्रम पर रात में शेर-शेरनी आकर बैठते हैं। हमने सोचा– "चलो, शेर भी देख लेंगे।" हम चल दिए।

उनका आश्रम मार्ग से 2 कि. मी. अन्दर था। हम गए उनके आश्रम पर। हमने देखा आश्रम में जहाँ-तहाँ सर्प के बिल बने हुए थे। हमने अपनी आँखों से देखा कि वह बाबा सर्प निकलने पर कहते – "चल अन्दर" और वह सर्प चुपचाप बिल के अन्दर चला जाता। किसी बिल पर जाकर पुकारते –"बाहर आ" – तो बिल से सर्प एकदम बाहर निकल आता था। हम जहां सोए थे, वहां भी चारों तरफ सर्पों के बिल ही बिल थे। हम भी बीच में ही सोए थे– हमको तो डर जरा भी नहीं लगा। डर काया को नहीं होता– डर होता है माया को– खैर, उस रात शेर वगैरह तो आए नहीं। पास में ही कहीं ढोल-ढमाके की आवाजें हो रही थी। उस शोर के कारण शायद उस रात शेर नहीं आए।

खैर, मैं बता रहा था कि सेठानी उस मजदूर की झोंपड़ी में थैली रख कर आ गई। शाम को मजदूर काम से लौटकर आया तो अपने घर में थैली पड़ी देखकर आश्चर्य करने लगता है। थैली को खोलता है तो उसमें रुपये भरे थे। खुशी से उछलने लगा और

प्रभु को धन्यवाद दिया। उसके बाद उसने उन रुपयों को गिना- वे सब निन्नयानवे रुपये निकले। वह सोचने लगा– "भगवान, दिए भी तो कम से कम सौ पूरे ही कर देते। कोई बात नहीं, मैं पूरे सौ कर लूंगा।

मम्मन सेठ की कंजूसी :

आचारांग सूत्र की टीका में लिखा है कि एक बार राजा श्रेणिक अपने महल के झरोखे में बैठे हुए वर्षा ऋतु का आनन्द ले रहे थे कि अचानक उनकी नजरें तीव्र गति से बहती हुई नदी पर गई। उन्होंने क्या देखा कि एक व्यक्ति लगोटी पहने हुए नदी के बहाव के साथ बहकर आने वाली लकड़ियों को इकट्ठा कर रहा था। यह दृश्य देखकर श्रेणिक राजा ने सोचा – "मेरे राज्य में ऐसा निर्धन यह कौन व्यक्ति है, जो भयंकर वर्षा और नदी के तेज बहाव मे अपनी जान की परवाह न करता हुआ लकड़ियाँ एकत्रित कर रहा है?" राजा खोज करने के लिए उस व्यक्ति का पीछा करने लगा। काफी लकड़ियां इकट्ठी करके जब उसने गट्ठर बना कर अपने सिर पर रख लिया तो राजा श्रेणिक भी उसके पीछे-पीछे हो लिए। वह व्यक्ति चलता हुआ एक भव्य हवेली के पास पहुँचा – गट्ठर बाहर डालकर जब उसने भीतर प्रवेश करने के लिए दरवाजा खोला तो राजा उसको पहचान गया। राजा श्रेणिक आश्चर्यचकित होकर सोचता है – "अरे, मम्मन सेठ! इसको क्या कमी है जो इस प्रकार अपनी जान जोखिम में डाल कर लकड़ियां इकट्ठी कर रहा है ?" खैर, राजा ने उसके मकान

का नम्बर नोट कर लिया। अगले दिन वह नम्बर देकर राज-कर्मचारियों से कहा– "इस मकान के मालिक को शीघ्र मेरे समक्ष हाजिर करो।" अनुचर गए और उस सेठ को बुलाकर ले आए। राजा ने पहचान लिया कि "यही व्यक्ति रात में मैंने देखा था। उस समय तो वह नंगे बदन मात्र लंगोटी पहने हुए था, किन्तु अब सम्भ्रान्त श्रेष्ठि के रूप में यहाँ आया है।' राजा ने उससे पूछा–"आखिर आपको क्या कमी है जो आप अपनी जान को भी परवाह न करके भयंकर वर्षा में नदी में तैरकर लकड़ी एकत्रित कर रहे थे।"

बन्धुओं जानते हो, सेठ ने क्या उत्तर दिया? वह बोला– "मेरे पास सोने के द्वारा निर्मित एक बैल है। उसकी जोड़ी का दूसरा स्वर्ण बैल बनवाना है। इस उद्देश्य की पूर्ति में लगा हुआ हूँ।" आप को हँसी आ रही होगी या उसकी कंजूसी पर धिक्कार का भाव भी मन में आया हो किन्तु बन्धुओं, लोभ ऐसा ही है। मैं बता गया हूँ कि लाभ से लोभ बढ़ जाता है।

मजदूर ने अपनी झोंपड़ी में रुपयों की थैली पाई–उसे लाभ प्राप्त हुआ–धन अनायास ही मिल गया, तो मजदूर के मन में लोभ ने डेरा जमा लिया। 99 रुपयों को पूरा सौ बनाने की चेष्टा में वह अपनी प्रतिदिन की मजदूरी में से कुछ बचाने में लग गया–उसने अपने जरूरी खर्चों में भी कटौती करनी शुरू कर दी। जैसे-तैसे करके उसने वे रुपये पूरे सौ कर लिए। अब उसे 101

बढ़ने की लगी। एक सौ एक हो गए तो और बढ़ाने की फिक्र लगी। इस प्रकार उसकी तृष्णा बढ़ती जाती है। वह जब काम पर जाता, तब थैली को एक स्थान पर गाड़ कर जाता, सारे दिन रुपयों की चिन्ता सताती रहती और शाम को आते ही थैली को सबसे पहले देखता। रात में भी रुपयों की थैली अपने सिरहाने रख कर सोता था। हर समय चिन्ताग्रस्त और आशंकित रहता। पहले उसके पास जब कुछ नहीं था, तब उसको न भय था और न ही कोई चिन्ता थी, उसका जीवन बड़ा ही बेफिक्र और मस्त जीवन था। मस्ती से रूखासूखा जो भी मिल जाता—वह खाकर सन्तोषपूर्वक अपने दिन गुजार रहा था। जैसे ही अधिक धन उसके पास आया, वह निन्नयानवे के फेर में पड़ गया। धन के लाभ के साथ लोभ की यही स्थिति बनती है। आप स्वयं जानते हैं। यही स्थिति आपकी है। कुछ महीनों बाद सेठ अपनी सेठानी से कहता है—"तुमने अब उस मजदूर को देखा ? उसकी क्या हालत बन गई है ?" सेठानी आश्चर्य से बोली—"हां, अब तो वह दुर्बल, चिन्तित और सुस्त-बीमार-सा लगता है। ऐसी क्या बात थी उस धन की थैली में, जिसको पाने के बाद वह बदल गया है ?" सेठ ने कहा—"यह निन्नयानवे का चक्कर है। हृष्ट-पुष्ट व्यक्ति की मस्ती मिटाकर यह उसे चिन्तातुर बना देता हैं। अब चाहे वह पहले से भी अच्छा खाये-पिए, लेकिन वह स्वास्थ्य और बेफिक्री उसको फिर से वापस नहीं मिल सकती, क्योंकि उसको धनवृद्धि की चिन्ता सवार हो चुकी है।" सेठानी को मानना

पड़ा। अब उसकी समझ में अच्छी प्रकार आ चुका था कि निन्नयानवे का चक्कर क्या है।

तृष्णा को सन्तोष से शांत करो :

बन्धुओं, यह तो केवल निन्नयानवे रुपयों की ही बात थी, लेकिन यदि निन्नयानवे करोड़ की सम्पदा भी किसी के पास हो तब भी वह असन्तुष्ट ही रहता है। जैसा कि मम्मरण सेठ। आप सब भी इसे निन्नयानवे के चक्कर में लगे हो। आप भी रात-दिन इस तृष्णा रूपी आग को शान्त करने में लगे हो, किन्तु आप गल्ती पर हो। तृष्णा से तृष्णा शान्त नहीं होती है। उससे तो वह और बढ़ती है, जैसे अग्नि में ईंधन डालने से वह और भी प्रज्ज्वलित हो जाती है। तृष्णा रूपी अग्नि को सन्तोष का शीतल जल ही शांत कर सकता है। आप अपनी सन्तुष्टि भी बाहर में खोजते हो, परन्तु वह तो आन्तरिक अवलोकन में है। जिन आत्माओं की दृष्टि निज की ओर—अपनी आत्मा की ओर हो जाती है, वे अपनी सुख-संतुष्टि अंतरंग में ढूँढते हैं।

अनुकूल और प्रतिकूल परिषह :

सुबहुकुमार की दृष्टि अंदर की खोज की दिशा में मुड़ी थी, उसने अपना संशोधन किया—आत्मिक अनुसंधान किया—साधना में आए हुए अनुकूल और प्रतिकूल परिषहों पर विजय प्राप्त करने की ठानी। बन्धुओं, साधक के समक्ष दो प्रकार के परिषह आते हैं :-

१. अनुकूल परिषह :

२. प्रतिकूल परिषह :

बन्धुओं, प्रतिकूल परिषहों से भी अधिक दुर्जय अनुकूल परिषह हुआ करते हैं। अनुकूल परिषह क्या? व्रत से डिगाने के लिए कुछ ऐसी परिस्थितियां आ जाएँ, जब कि साधक को प्रत्येक दृष्टि से सुख-सुविधा का प्रलोभन दिखाई दे, वह अनुकूल परिषह होते हैं। प्रतिकूल परिषह में तो वह स्थिति सहनी ही पड़ती है। बिना सहे कोई उपाय नहीं होता, किन्तु अनुकूल परिषह में पूरा-पूरा सुख का अवसर और साधन होते हैं, वह परीक्षा की घड़ी होती है। वज्राचार्य के समक्ष भी एक अनुकूल परिषह आया था। रुक्मिणी ने तो उनको अपना पति बनाने का पूर्णतया संकल्प कर लिया।

ऐसा ही एक प्रसंग मेरे समक्ष भी उपस्थित हुआ था। हम मुंगेली में थे। अच्छी धर्म-प्रभावना हो रही थी। वहीं पर साध्विमंडल भी विराज रहा था। एक मूर्तिपूजक परिवार की सुशिक्षिता एम.ए. एल. एल. बी. अध्ययनरत युवती साध्वियों के दर्शनार्थ एक दिन आई। वह आई. पी. एस. में बैठने की तैयारी कर रही थी–प्रत्येक कक्षा में प्रथम स्थान प्राप्त करती थी। बहुत मार्डन और सम्पन्न परिवार की लड़की थी वह। उसकी माताजी का भी उधर के क्षेत्रों में काफी आदर था। साध्वी जी ने उसे कहा–"यहां निकट ही अन्य स्थान पर संत भी विराज रहे हैं, दर्शन

लाभ लेना।" उसने कहा–"मुझे संतों के प्रति अधिक श्रद्धा नहीं है।" खैर, वह हमारे पास आई। वंदनादि किया। साधारण परिचय के बाद मैंने उससे कुछ प्रश्न पूछे। मेरा विचार था कि इतनी शिक्षिता है अवश्य ही उत्तर दे सकेगी, किन्तु उससे उत्तर न बन पड़े। वह इतनी प्रभावित हुई कि उसने कहा–"मेरी प्रतिज्ञा थी कि जो बौद्धिक दृष्टि से मुझे हरा देगा, उसी से विवाह करूँगी। अब वह स्थिति तो नहीं बन सकती, अतः मैं संयम अंगीकार करूँगी।" उसी दिन से उसने दस दिनों तक बराबर दयाव्रत का नियम ले लिया। मूर्तिपूजक होते हुए भी वह बराबर मुंहपत्ती बाँधती–अपनी माताजी को भी साथ लाती। एक वक्त भोजन, रात्रिभोजन त्याग आदि कई प्रकार के व्रत-पच्चक्खाण उसने ले लिए। विहार में भी लगभग 22 कि. मी. साथ रही। उसके घर वालों को भय हुआ कि कहीं दीक्षा सचमुच ही न लेले अतः बाद में उसकी जबरदस्ती शादी कर दी गई। वह अब भी धर्म के प्रचार-प्रसार में लगी हुई है। बन्धुओं यूँ हमें भी ऐसी परिस्थिति आई थी। आज तो समय बहुत हो गया। बातों में ध्यान ही नहीं रहा–शेष चर्चा फिर यथा समय करेंगे।

26-8-89

अपनी आत्मा पर ढ़के हुए पर्दो को हमें स्वयं के प्रयास द्वारा ही हटाना होगा। हमारी आत्मा का ज्ञान स्व-संवेदन रूप तो है लेकिन स्वयं प्रकाशित होता हुआ भी वह हमारे प्रयास और पुरुषार्थ के बिना अनावृत्त नहीं हो पाएगा। यह तो आप सभी जानते हैं कि ज्ञानावरणीय कर्म से लोकाग्र स्थिति तक पहुँचाने वाली हमारी अदम्य शक्ति आच्छादित है। ज्ञानावरणीय कर्म बाँधा किसने ? हमने ही तो अपने कर्म बंधन किए हैं, तो हमें ही वे बंधन काटने होंगे। कर्म बंधनों को हम भोगकर और अपूर्वकरण के द्वारा विशेष वीर्य-शक्ति से अपवर्तन द्वारा भी निष्प्रभावी बना सकते हैं। कर्म भोगने हों तब भी हमारा खुद का प्रयत्न उसमें चाहिए – हम स्वयं ही उन कर्मों के विपाकानुसार भोग कर उन्हें आत्मा से अलग करेंगे।

'उद्‌बोधन स्वयं को'

प्रभुवर तारे द्वारे ....लाव्यो ।

(प्रार्थना पूर्ववत)

आवरण युक्त चैतन्य :

गीतिका के माध्यम से अन्तर्निवेदन का क्रम चल रहा है। घूम-फिर कर विविध गीतिकाओं के माध्यम से हम एक ही बात का निवेदन प्रस्तुत कर रहे हैं। हमारे जीवन की जो शाश्वत तमन्ना है, वह एक ही है। अतः उसी की याचना का निवेदन परमात्मा के चरणों में रखते हैं। हम जो भी निवेदन–जो भी याचना कर रहे हैं, वह किसी अन्य ईश्वर से नहीं, वरन् अपने अन्तर में बैठे परमात्व तत्व से कर रहे हैं। बाहर का कोई परमात्मा हमें कुछ नहीं दे सकता। हमें जो कुछ भी प्राप्त होगा, वह अपने ही आत्मा से मिलेगा। हमारा अच्छा या बुरा किसी अन्य बाहरी शक्ति के हाथ में नहीं है, स्वयं के पुरुषार्थ द्वारा ही हम अपने जीवन में अभीष्ट लक्ष्य को उपलब्ध कर सकते हैं। परमात्मा से तो हम केवल यह निवेदन प्रस्तुत कर सकते हैं कि हमारी ज्ञान-बुद्धि जागृत हो–हमें बोध प्राप्त हो–हमें ज्ञेय और उपादेय की सम्यक् प्राप्ति हो। केवल ज्ञान-दान की

याचना ही हम परमात्मा के चरणों में रख देते हैं। वैसे सत्य तथ्य तो यह है, कि परमात्मा मात्र एक माध्यम है–ज्ञान दृष्टि खुलेगी हमारे ज्ञानावरणीय कर्मों के क्षय होने से। आवरण हट जाने पर ही प्रकाश प्रकट होता है। एक बल्ब–जिस पर कोई शेड–कोई आवरण ढका है, क्या वह खुला और पूर्ण प्रकाश दे पाएगी? नहीं ना? इसी प्रकार जब तक हमारे ज्ञान-चक्षुओं पर–ज्ञान दृष्टि पर मोह-कषाय के और अहंकारादि विकारों के आवरण ढके हैं, तब तक भीतर में रहती हुई भी ज्ञान की वह ज्योति बाहर में प्रकट नहीं हो पाएगी। उस दृष्टि पर के आवरण हट जाने की ही हम अन्तरात्मा के प्रभु से–अपनी चैतन्य आत्मा से प्रार्थना करते हैं। बल्ब का उदाहरण आपने समझा? बल्ब में प्रकाश अवश्य है–आवरण से ढका होने की अवस्था में भी है और स्विच बन्द होने की अवस्था में भी उसमें वह शक्ति मौजूद है कि स्विच ऑन होते ही वह अपने प्रकाश बल से अन्धेरे को परास्त कर दे, किन्तु जब तक स्विच ही न खोलें—जब तक स्विच खुला होने पर भी उस पर के आवरण को न दूर करें, तब तक वह बल्ब निष्क्रिय ही है। शक्ति व्याप्त होते हुए भी अन्धेरा दूर करने में असमर्थ है। ठीक वही स्थिति आत्मतत्त्व की है।

आत्मा का प्रकाश असीम और अनंत है। इस बात को भक्तामर स्तोत्र में इस प्रकार कहा गया है :

नास्तं कदाचिदु पयासि न राहुगम्य,
स्पष्टीकरोषि सहसा युग पज्जगन्ति।

नाम्भोधरोदर निरुद्ध महाप्रभावः
सूर्यातिशायिमहिमाऽसि मुनीन्द्रोलोके ।।

हे प्रभु, आपकी महिमा सूर्यतिशायी है अर्थात् हे आत्मस्थ देव, आपका प्रकाश सूर्य से भी बढ़कर है, किन्तु उस अतुलनीय प्रकाश पुन्ज के ऊपर अनेक आवरण आए हुए हैं जिसके कारण वह प्रकाश अवरुद्ध हो गया है। इसके बाद कहा गया है कि हमें उस प्रकाश को प्रकट करना है, जिस सूर्य को न कोई राहु ग्रसता है और सदा प्रकाशित रहता हुआ जो मेघों के आवरणों में ढके हुए भास्कर के समान अप्रभावी हो गया है। इतने पर भी करोड़ों सूर्यों की प्रभा से भी बढ़कर वह संसार का अलौकिक तेज अधिक समय तक अदृश्य नहीं रह सकता। सम्यग्दर्शन का प्रादुर्भाव होते ही वह प्रभा बादलों को चीरकर प्रकट हो जाती है। सम्यग्दर्शन की ज्योति स्वपरात्मक सभी पदार्थों को और सम्पूर्ण ज्ञान को प्रकाशित कर देती है। स्वयं प्रकाशरूप होती हुई वह सभी वस्तुओं को प्रकाशवान बना देती है। अनंत सूर्यों से भी बढ़कर हमारा आत्मप्रकाश सम्यग्दर्शन के अभाव में आवृत्त हो रहा है। उसी सम्यग्दर्शक भाव के अधिष्ठाता बनकर हम अपने चैतन्य के स्वमित्व को प्राप्त करना चाहते हैं। उसी भाव को यहां गीतिका के द्वारा व्यक्त किया गया है।

रामायण में तुलसीदास ने कहा है :—

राम नाम मणि दीप धर, जीभ देहरी द्वार ।
तुंलसी भीतर बाहरी जो, चाहसी उजियार ।।

यदि तुम अन्दर और बाहर दोनों तरफ प्रकाश चाहते हो राम नाम रूपी दीपक जलाकर मन की दहलीज पर–देहली पर रख लो। जैसे देहरी पर रखा हुआ दीपक कक्ष के अन्दर भी उजियाला कर देता और बाहर की ओर भी उसका प्रकाश फैला रहता है, उसी तरह राम नाम का दीपक भी है। राम नाम अर्थात् आत्मतत्त्व की सम्यक् पहचान होना ही सम्यग्दर्शन है। एक ही बात को अनेकानेक प्रकार से शास्त्रों में–धर्मग्रन्थों में और सत्पुरुषों की वाणी में उभारा गया है–एक ही तत्त्व को विभिन्न उपमाओं, रूपकों और उदाहरणों के माध्यम से स्पष्ट करके समझाने का यत्न किया गया है ताकि प्रत्येक स्तर की बुद्धि वाले व्यक्ति उसको समझ सकें और अपेक्षित लाभ प्राप्त कर सकें।

आवरणहर्ता कौन ?

आत्मज्ञान रूपी सूर्य का प्रकटीकरण कैसे होगा ? सूर्य है–उसमें प्रकाश के रूप में अन्धेरे को हटाने की शक्ति भी है, लेकिन उस सूर्य पर अनेक प्रकार के आवरण हैं। वे विविध आवरण दूर होंगे तभी सूर्य की अलौकिक दिव्य प्रभा प्रकट होगी। प्रश्न यह है कि वे आवरण दूर कैसे होंगे ? कौन करेगा ? हम गीतिका के माध्यम से प्रार्थना भी यही कर रहे हैं कि हे प्रभु मेरे आवरणों को हटाओ, मेरी ज्ञानदृष्टि को उजागर करो। सोचने का बिन्दु यह है कि क्या यह कार्य किसी अन्य को करना है, जिससे हम प्रार्थना कर रहे हैं क्या वह शान्ति हमारे अन्तर में निहित प्रकाशकीय तत्त्व को प्रकट कर देगी ?

बन्धुओं, ऐसा नहीं है। अपनी आत्मा पर ढके हुए पर्दों को हमें स्वयं के प्रयास द्वारा ही हटाना होगा। हमारी आत्मा का ज्ञान स्वसंवेदना रूप तो है लेकिन स्वयं प्रकाशित होता हुआ भी वह हमारे प्रयास और पुरुषार्थ के बिना अनावृत्त नहीं हो पाएगा। यह तो आप सभी जानते हैं कि ज्ञानावरणीय कर्म से लोकाग्र स्थिति तक पहुँचाने वाली हमारी अदम्य शक्ति आच्छादित है। ज्ञानवरणीय कर्म बाँधा किसने ? हमने ही तो अपने कर्म बन्धन किये हैं, तो हमें ही वे बन्धन काटने होंगे। कर्म बन्धनों को हम भोगकर और अपूर्वकरण के द्वारा विशेष वीर्य-शक्ति से अपवर्तन द्वारा भी निष्प्रभावी बना सकते हैं। कर्म भोगने हों तब भी हमारा खुद का प्रयत्न उसमें चाहिए—हम स्वयं ही उन कर्मों के विपाकानुसार भोग कर उन्हें आत्मा से अलग करेंगे। दूसरी स्थिति में अपर्वनाकरण के द्वारा कर्म हल्के करें तो भी स्वय को ही करना है—कोई दूसरा हमारे कर्मों को क्षय करने नहीं आएगा। हम सीध शब्दों में कह सकते हैं कि हम खुद ही आवरणकर्त्ता और आवरणहर्त्ता हैं। प्रत्येक स्थल पर हम यही भाव रखें कि आत्मा स्वयं ही बन्धन बाँधती है और स्वयं ही उनसे मुक्त होती है। कहा है :

स्वयं कर्म करोति आत्मा स्वयं तत्फलमश्नुते।
संसर्ता परिनिर्वाता, सहि आत्मा नान्य लक्षण: ।।

क्या कहा ? आत्मा स्वयं ही कर्म करती है और उन कर्मों का शुभाशुभ फल-भोग भी आत्मा स्वयं ही भोगती है। यदि हम

किसी बाह्य ईश्वर को अपने कर्मों के बीच में लाएं–यह कहें कि ईश्वर हमारे कर्म काट देगा तो यह हमारी भ्रान्ति है–भूल है। यदि ऐसा होवे तो ईश्वर सबके कर्म काट दे, क्योंकि वह तो सबका ईश्वर है–सबका स्वामी है और पक्षपात रहित है। ऐसी अवस्था में ईश्वर किसी को अशुभ कर्म करने भी नहीं देगा और सभी अच्छे कर्म करेंगे। क्या ऐसा हो सकता है ? थोड़ा भी विवेक रखने वाला व्यक्ति झट से कह देगा कि यह बात निरर्थक और असम्भव है। जब हम परमात्मा से कोई भी याचना-प्रार्थना करते हैं, तब हमें इस बात को ध्यान में रखना चाहिए कि वह निवेदन हमारा किसी अन्य ईश्वर से नहीं है, अपितु अपने ही आत्मस्थ परमात्मस्वरूप से है और वह भी इस रूप में है कि हम उस प्रार्थना के माध्यम से अपनी शुभ भावना व्यक्त करते हैं–केवल अपनी अभिव्यक्ति को शब्दों का लिबास पहना कर प्रस्तुत करते हैं–वास्तव में सब कुछ हमें स्वयं करना है। प्रार्थना और निवेदना करके हमारा कार्य सम्पूर्ण नहीं हो जाता, वह तो उस रूप में आरम्भ होता है।

दृष्टि बोध आवश्यक है :

प्रार्थना के रूप में प्रकट की हुई हमारी उत्कृष्ट भावना की पूर्ति के लिए सम्यग्दृष्टिबोध की आवश्यकता है। वीतरागवाणी मार्गदृष्टा होती है–वह हमें यथार्थ का दिग्दर्शन करा देती है–कर्मों के बन्धन और कर्मनिर्जरा के हेतुओं को हमारे समक्ष रख देती

है। उसके बाद हमारा ही कार्य है उस शुभ पथ का अनुसरण करके–उन हेतुओं का स्वरूप समझ कर–उस सम्यग् रीति से अपने कर्म हल्के करें या निर्जरा करें, जिससे कि शीघ्रताशीघ्र उस परमकल्याणकारी तत्त्व को हम उपलब्ध कर सकें। वीत-रागवाणी और सत्संग हमारे सहायक बनकर हमें उस मार्ग पर जाने का सरल उपाय बताते हैं–धर्मगुरू निमित्त बनते हैं। किसी भी आत्मा का जागरण विभिन्न निमित्तों से हो सकता है मुख्य बात है अन्तराय कर्मों का क्षय। पुण्य योग प्रबल होने पर आत्मा को कोई निमित्त प्रभावी रूप में अनावृत्त कर डालता है। एक झटका लगने पर ही आत्म जागरण हो जाता है। निमित्त तो अक्सर मिलते हैं—किन्तु किसी भी निमित्त का न्यूनाधिक प्रभाव अन्तराय कर्म की उपस्थिति के अनुपात में ही होता है।

मंत्री का आत्मजागरण :

एक सम्राट बड़ा ही सुन्दर और व्यवस्थित रीति से राज्य संचालन करता था। उसकी प्रजा भी सन्तुष्ट और समृद्धीशाली थी। पुण्य का संचय चुक रहा था। धीरे-धीरे कम हो रहा था। बन्धुओं जो पुण्य बन्धन हम पूर्व में कर चुके हैं, उन्हीं के कारण इस समय सुख समृद्धि, यश-कीर्ति और समस्त प्रकार की ऋद्धि प्राप्त होती है। उस राजा का भी पुण्य बल क्षीण होने का समय आया। फलस्वरूप उसे एक निमित्त मिला। शुभ और अशुभ सभी प्रकार के कर्म बन्धनों को कोई न कोई निमित्त मि-

करता है। राजा को क्या निमित्त मिला ? उसने दूसरी शादी कर ली। राजाओं के लिए एक या अनेक विवाह करना कोई बड़ी बात नहीं है। खैर, उसने शादी कर ली। नई रानी आई। बहुत सुन्दर और रूप-लवण्य का भण्डार थी वह ! सभी प्रजाजन भी रानी के अनुपम सौन्दर्य की प्रशंसा करते थे। उन्हें भी प्रसन्नता थी कि हमारे प्रिय नरेश को ऐसी अप्सरा-सरीखी रानी मिली है। कई बार मनुष्य बड़ी खुशी का अनुभव करता है, लेकिन जल्दी ही उसकी वह खुशी दु:ख का हेतु बन जाती है। ऐसा ही प्रजा के साथ भी हुआ।

बन्धुओं, क्या स्थिति बनी कि रानी के सौन्दर्य-पाश में सम्राट बुरी तरह बँध गया। उस नई रानी पर उसकी आसक्ति इस कदर बढ़ गई कि वह हर समय अन्त:पुर में ही रहने लगा। उसकी प्रजा और सभासद चौंक पड़े कि हमारे कर्त्तव्य निष्ठ राजा का यह कैसा परिवर्तन हो रहा है। मंत्री परिषद् भी चिन्तित होने लगी। सबने निश्चय किया कि जैसे भी हो राजा को उत्तरदायित्वों का ध्यान दिलाना है। पहले तो कुछ दिन प्रतीक्षा करी–धैर्य रखा कि राजा स्वयं ही राज्य कार्य में ध्यान देगा। अभी नई-नई शादी की है, अतः कुछ मौज-शौक में लगा है। जल्दी ही वापस मुड़ेगा, किन्तु सभी की यह धारणा कल्पना के हवा महल के समान ढह गई। राजा ने तो राज्य कार्य को

प्रजा को—अपने समस्त उत्तरदायित्वों को ऐसे विस्मृत कर दिया, जैसे कि उसे किसी से कोई सरोकार ही न हो ।

सम्राट ने पहले से राज्य की व्यवस्था बड़ी सुचारू रूप से चला रखी थी । मंत्री भी सब योग्य और अनुभवी थे । उनमें भी प्रधानमन्त्री तो बहुत ही निपुण और जिम्मेदार व्यक्ति था । अतः सभी के सम्मिलित प्रयासों से और प्रधानमन्त्री के कुशल नेतृत्व के कारण कुछ दिनों तक तो सब कार्य ठीक-ठाक चलता रहा, किन्तु धीरे-धीरे प्रजा में अव्यवस्था और अशांति फैलने लगी । सम्राट के अधिकारयुक्त संचालन और निर्देशन के बिना सब कार्य गड़बड़ होने लगा । मंत्रियों से यदि राज्य व्यवस्था चल जाए तो राजा को कौन पूछे ? बन्धुओं, किसी भी संघ का—राज्य का और देश का प्रधान कोई न कोई चाहिए ही । प्रधान नेतृत्व के अभाव में केन्द्रीयकरण छिन्न-भिन्न हो जाता है ।

राज्य में असन्तोष बढ़ना शुरू हुआ । सभी सभासदों ने एकमत होकर प्रधानमन्त्री से निवेदन किया—"आप एक बार पुनः जाकर महाराज को समझाएँ ।" मन्त्रीगण जानते थे कि प्रधानमंत्री क्या उत्तर देंगे, प्रधानमंत्री पहले भी कई बार सम्राट से बात करने की कोशिश कर चुके थे परन्तु हर बार दरवाजे से ही लौटना पड़ता था । अब तक एक बार भी महाराज से भेंट नहीं हो सकी थी । प्रधानमंत्री हताश स्वर में कहने लगे—"मैं कई बार जाकर अपमानित हुआ हूँ । महाराज जहां तक बढ़ चुके हैं, वहां

से उनका लौटना असम्भव जान पड़ता है।" गणमान्य प्रजाजनों और सभासदों के बहुत आग्रह करने पर प्रधानमन्त्री ने कहा- "मैं इस बार अकेला नहीं जाऊँगा। आप सभी का लिखा हुआ प्रार्थना पत्र लेकर मैं आगे रहूँगा और आप सब भी मेरे साथ अपनी विनती के समर्थन में मेरे पीछे रहेंगे।" सबने मान लिया।

यथानिर्णय के अनुसार सब लोग पहुँचे। राजा के महल में गए दरवाजा बन्द था। प्रजा के माननीय लोगों का संदेश राजा को पहुँचाया गया। प्रधानमन्त्री प्रजा के प्रतिनिधि के रूप में सबसे आगे था। जब द्वारपाल ने सूचना दी कि मन्त्रीगण और अन्य कुछ लोग महाराज के दर्शन करना चाहते हैं, तब नई रानी बाहर आई। कड़कते हुए स्वर में पूछा-"क्या बात है?" किसी की हिम्मत न हुई कि एक शब्द भी कह दे। प्रधानमन्त्री ने अभि-वादन करके कहा-"कृपया, महारानी जी यह प्रार्थना पत्र महा-राज की सेवा में पहुँचा दें।" रानी ने पत्र लिया। पढ़ा और उसे फाड़ कर टुकड़े-टुकड़े कर दिया। फिर तिरस्कारपूर्ण ढंग से गरजी-"खबरदार. जो एक भी पग आगे बढ़े। महाराज को किसी से नहीं मिलना। प्रधानमन्त्री जी, मैं पहले भी आपको बता चुकी हूं कि महाराज को मिलने की कोशिश न करो, फिर भी आपकी बुद्धि में बात नहीं बैठी। आज इतनी बड़ी फौज लेकर महाराज के विश्राम में खलल डालने आ गए। याद रखो, आज के बाद फिर आदेश का उल्लंघन किया तो बहुत बुरा होगा।"

बात लग गई :

बेचारा प्रधानमन्त्री ! सिर झुकाए चुपचाप अपमान सहता रहा। कड़वे घूँट की तरह ! रानी तो गरज-बरस कर वापस कमरे में चली गई और भड़ाक् से दरवाजा बन्द ! सभी ने एक दूसरे की ओर विवशता से देखा और भारी कदमों से लौट गए। प्रधानमन्त्री के संवेदनशील मन को बड़ी ठेस लगी। उसका चिन्तन चलने लगा—"इतनी खुशामद यहां करता हूँ, बदले में अपमान मिलता है। क्यों अपनी आत्मा का हनन करूँ ? इतनी खुशामद परमात्मा की करुँगा तो निरर्थक न जाएगी।"

यह चिन्तन करके प्रधानमन्त्री ने राज्यकार्य छोड़ दिया—घर गृहस्थी-परिवार सभी को छोड़ दिया। वह एकान्त जंगल में जाकर प्रभु चिन्तन में लीन हो गया। उसको बात गहरी चुभ गई थी। ध्यान साधना में रत रहता हुआ उसने अपनी आत्मा का मर्म जाना। उसे उस स्थिति में अपार आनन्द का अनुभव हुआ। इधर पड़ौसी देश के शत्रु राजा ने मौके का फायदा उठाया। 'राजा तो भोग विलास में लिप्त है और प्रजा का कुछ ख्याल नहीं रखता' यह बात सर्वविदित हो चुकी थी। मंत्री ने जब से वैराग्य ले लिया था, तब से राज्य में अराजकता कुछ अधिक ही बढ़ चुकी थी—इन सभी बातों का लाभ उठा कर शत्रु राजा ने आक्रमण कर दिया। मंत्री परिषद् और सभासद बहुत चिन्तित हुए। बड़ी कठिनाई

से राजा तक पहुँचे और सारी स्थिति निवेदन की। राजा ने कहा—"अच्छा, स्थिति की भयंकरता इतनी वढ़ गई है? प्रधानमन्त्री कुछ उपाय क्यों नहीं करते?" सबने निवेदन किया—"अन्नदाता, प्रधानमन्त्री तो राज्य को छोड़कर जंगल में एकान्त साधना करते हैं। अब तो वे तपस्वी वन गए हैं।"

राजा को एकदम होश आया, जैसे नींद से जागा हो। उसे अपना कर्त्तव्य बोध हुआ। हालात बद से बदतर हो चुके थे। सम्राट को अपनी भूल का एहसास हुआ, किन्तु प्रधानमन्त्री के बिना वह कुछ कर पाने में स्वयं को असमर्थ पा रहा था। सम्राट ने प्रधानमन्त्री को वापस बुलाने के लिए कई वार संदेश भेजे किन्तु प्रधानमन्त्री ने स्पष्ट कह दिया—"अब मुझे स्वामित्व की प्राप्ति हो गई है अतः राजा की अथवा अन्य किसी की चाकरी अब मुझे नहीं करनी।" इस उत्तर ने सम्राट के अन्तर्मन को झकझोर दिया। अन्त में वह स्वयं प्रधानमंत्री से मिलने के लिए जंगल में गया।

साधना से मान बढ़ा है :

सम्राट ने जंगल में साधनारत प्रधानमन्त्री को देखा। उसके चेहरे पर तेज था—नेत्रों में निर्भीकता थी। शरीर कृश हो गया था, पर अद्भुत शान्ति और सौम्यता की किरणों से प्रतिभासित था। राजा ने मंत्री से कहा—"यह क्या हालत वनाली है अपनी? क्यों अपने शरीर को सुखाए जा रहे हो? मेरे साथ चलो और

समस्त सुखों को भोगो।" प्रधानमन्त्री ने गम्भीर वाणी में कहा—
"महाराज, अपनी-अपनी दृष्टि है। आपको मेरी साधना कुछ भी मालूम दे, किन्तु मैं तो इसी में संतुष्ट हूँ। साधना से मेरा मान बढ़ा है। आप स्वयं मेरे पास चलकर आए हैं। अन्यथा कुत्ते की तरह दुत्कार कर मुझे वापस भेज दिया जाता था। मैंने साधना द्वारा परम तत्त्व को जान लिया है। अब मैं दासता में नहीं, निज के स्वमित्व में सुख पाता हूँ।"

सम्राट की आँखें खुल गईं। उसे अपनी मूर्खता का भान होने लगा। उसे एहसास हुआ कि रानी के राग-भाव में फँसकर मैंने अपने कर्त्तव्य की कितनी उपेक्षा की है। बन्धुओं, शास्त्रों में नारी को भी मुक्ति मार्ग में रुकावट माना है। उत्तराध्ययन में आया है :

णारीसु णोवगिज्झेज्जा, इत्थी विप्पजहे अणगारे।
धम्मं च पेसलं णच्चा, तत्थ ठवेज्ज भिक्खू अप्पाणं॥

अर्थात् स्त्रियों में आसक्त न होकर धर्म को ही सर्वोपरि समझने वाला भिक्षु अपनी आत्मा में स्थिर होता है। स्त्रियों को मोक्ष मार्ग की अर्गला भी बताया है, किन्तु इतिहास साक्षी है कि स्त्रियां मोक्ष में सहायक भी बनी हैं। तुलसीदासजी की पत्नी रत्नावती ने अपने पति को फटकारते हुए क्या कहा था :

अस्थि चर्म की देह मम, ता में ऐसी प्रीति।
ऐसी श्री रघुनाथ में होती तो न भव भीति॥

पत्नी के इन शब्दों को सुनकर ही तुलसीदास का आसक्ति भाव छिन्न-भिन्न हो गया था। पत्नी उनकी रागासक्ति का हेतु तो थी किन्तु वही पत्नी बाद में उनकी मुक्ति का–आत्मा के जागरण का निमित्त बन गई। आजकल कैसी पत्नियां हैं? अपने पति की मुक्ति को और आत्मजागरण को प्रशस्त करने वाली कितनी पत्नियां मिलेंगी? एक प्रसंग ऐसा बना, कि एक स्त्री ने अपने पति को कुमार्ग और भ्रष्टाचार से रोक दिया।

अन्याय का पैसा नहीं लूँगी :

भड़ौच की घटना है, बन्धुओं एक न्यायाधीश सुबह का नाश्ता कर रहा था। साथ ही अखबार में छपे हुए अपने फोटो को भी अपनी पत्नी को बड़े गर्व से दिखा रहा था। फोटो के नीचे उस पेचीदा मुकद्दमे का विवरण न्यायाधीश की तारीफों के पुल बांधते हुए प्रकाशित हुआ था। वह पढ़ कर सुना रहा था। तभी एक सूटेड-बूटेड युवक ने प्रवेश किया। उसके हाथ में एक अटैची थी। उसने दूसरे हाथ में पकड़े हुए मिठाई के डब्बे मेज पर रख दिए। न्यायाधीश और उसकी पत्नी को अभिवादन किया फिर बड़ी कृतज्ञता प्रकट करते हुए कहा–"जज साहब, आपके अथक प्रयास और वाक्कौशल से ही मैं यह केस जीत सका हूँ। बच्चों के लिए मिठाई लाया हूँ। इसे स्वीकार करें।" पति की प्रशंसा सुनकर पत्नी का हृदय प्रफुल्लित हो रहा था, गौरान्वित हो रहा था। कुछ देर बैठने के पश्चात् बातों-बातों

में वह बोला—"जज साहब, आपके तर्कों के द्वारा मैं करोड़ों रुपयों की जायदाद का वारिस साबित हुआ हूँ। अतः यह तुच्छ सी भेंट आपकी नजर करने को लाया हूँ। अधिक नहीं केवल 50,000 रुपये ही हैं।" कहकर उसने अटैची खोल कर सामने रख दी। जज की पत्नी का चेहरा एकदम बुझ गया। युवक तो प्रणाम करके चला गया। न्यायाधीश ने मन्द-मन्द गर्वीली मुस्कान बिखेरते हुए अपनी पत्नी से कहा—"सुबह-सुबह इतनी अच्छी आमदनी हुई है, अरे भई, लक्ष्मी घर में आई है, और तुम उदास हो! आखिर क्यों? "पत्नी ने संजीदगी से कहा—"असत्य और अन्याय से कमाई हुई दौलत मेरे लिए लक्ष्मी नहीं हो सकती। मैं तो इस धन को हाथ भी नहीं लगाऊँगी।"

न्यायाधीश चौंका। पत्नी के शब्दों में छिपे कटाक्ष को अनुभव करके बोला—"यह तो मेरा पारिश्रमिक है। मैंने मेहनत की, केस जिताया और वह अपनी खुशी से दे गया है।" पत्नी शेरनी की तरह गरज कर कहती है—"आप कितनी ही युक्तियाँ गढ़ लो, लेकिन मैं तो इस धन को नहीं रखूँगी। किसी दूसरे का वैध अधिकार गलत व्यक्ति को दिलाना न्याय कभी नहीं हो सकता। यह आपका पारिश्रमिक नहीं है, अनीतिपूर्ण कार्य करने के बदले दी हुई रिश्वत है। मैं तो इसे हाथ भी नहीं लगाऊँगी।"

न्यायाधीश महोदय ने देखा घर की सरकार का रुख विपरीत है, तो सुलहपूर्ण मुद्रा में हास्य से कहा—"मत लगाना भई, हम ही इसे उठा कर रख देते हैं।" यह कह कर वह अटैची उठा

कर कमरे में रखने को चला। पत्नी तूफान की-सी तेजी से आकर रास्ता रोक कर खड़ी हो गई। बोली—"यह रिश्वत का पैसा मेरे घर में नहीं रह सकता। न मैं इसमें से एक पाई भी अपने बच्चों के ऊपर खर्च होने दूँगी।" पति महोदय हथियार डालने के अंदाज में बोल उठे—"आखिर तुम चाहती क्या हो?"

पत्नी ने कुछ नर्म पड़कर कहा—"मैं यह चाहती हूँ कि आप इस धन को लौटा दें। यह अन्याय और अनीति का पैसा मेरे घर की सुख-शान्ति को निगल जाएगा। मैं रुखी-सूखी खा लूँगी। बच्चों को भी खिला लूँगी, लेकिन ऐसा पैसा मुझे नहीं चाहिए।" पति ने कहा—"यह तुम क्या कह रही हो। हमारे बच्चों का भविष्य सुन्दर बनाने में क्या हमें धन की आवश्यकता नहीं पड़ेगी?" पत्नी बोली—"मुझे ऐसा स्टैण्डर्ड और भविष्य नहीं चाहिए जो रिश्वत के धन से बने।" बहुत तर्क-वितर्क हुआ और अन्त में जज साहब को वह रिश्वत के रुपये लौटाने ही पड़े। पत्नी ने वह असत्य द्वारा अर्जित धन स्वीकार नहीं किया।

देखा आपने? ऐसी निष्ठावान् पत्नी अपने पति को सन्मार्ग पर चलाने में सहायक बनती है। स्त्री को अर्द्धांगी कहा है—धर्मपत्नी भी कहा है। जो पति को नीति पथ पर—धर्म के पथ पर चलाए, वह धर्मपत्नी होती है। ऐसी पत्नी ही पति परिवार में धर्ममय वातावरण जागृत रखती है।

स्त्री से दूर रहने का निर्देश नीतिकारों ने योगी को दिया है क्यों? गहराई से विचार करें तो इसका रहस्य सहज ही

समझ में आ जाता है। साधु के लिए और मोक्षमार्ग के साधक के लिए सर्व प्रकार की वासनाओं का त्याग आवश्यक है। स्त्री के लिए पुरुष को उसी रूप में समझना चाहिए। नीतिकार कहते हैं :

कामातुराणां न भयं न लज्जा।

वासना के आवेग में बोध नहीं रह पाता। वासनोन्मुख व्यक्ति अपनी मानमर्यादा और प्रतिष्ठा तक को दाँव पर लगाने को तैयार हो जाता है। वासना पर विजय प्राप्त करने वाले विरले ही होते हैं। लाखों-करोड़ों में कोई एकाध होते हैं। भोगों के परिणाम को न सोचकर उनके बाह्याकर्षण में फँसने वाले अपनी साधना की उच्चता को खो देते हैं। सांसारिक वासनाओं का फल दुःखदायी होता है :

जहा व किंपागफला मणोरमा,
रसेण वण्णेण य भुज्जमाणा।
ते खुद्दए जीविए पच्चमाणा,
एओवमा कामगुणा विवागे॥

बताया है कि जैसे किंपागफल दीखने में सुन्दर होता है उसे देखते ही खाने की रुचि होती है। खा लेने पर उसका परिणाम मृत्यु के रूप में भयंकर होता है, वैसे ही काम भोग बाहरी रूप से देखने में अच्छे मालूम देते हैं, किन्तु उनके विलास में फंसे व्यक्ति अपने जीवन को नष्ट कर लेते हैं। तुलसीदास की बात आप सभी जानते होंगे। कामवासना के अन्दर वे कैसे-कैसे कार्य कर

बैठते हैं—विकराल रूप से चढ़ी हुई नदी को मुर्दे के सहारे पार करना—साँप को रस्सी समझकर उसके द्वारा मकान की खिड़की तक पहुँच जाना—यह सब क्या है? मौत को निमन्त्रण देने वाली नासमझी ही तो है। वासनाग्रस्त व्यक्ति प्रायः इस प्रकार की बुद्धिहीनता कर बैठता है, क्योंकि वासना के तीव्र नशे में वह बेभान हो जाता है। नीतिकार कहते हैं :

स्त्रीणां द्विगुणो आहारा लज्जा चाऽपि चतुर्गुणा ।
साहसं षड्गुण चैव कामश्चाष्ट गुणः स्मृतः ॥

स्त्रियों में पुरुषों की अपेक्षा चौगुणी लज्जा और आठगुणा कामवासना बताई है लेकिन लज्जा को स्त्रियों का सर्वोपरि भूषण भी बताया है। शीलवती नारियाँ अपने सतीत्व पर आंच नहीं आने देती। रामायण में सीता जो रावण को धिक्कारती हुई कहती है :

सठ सूनेहिं हर आनेहिं मोहिं, अधम निलज्ज लाज नहीं तोहि ।

इसी प्रकार सती राजीमति रथनेमि को धर्म में स्थिर करती है :

घिरत्थु तेऽजसोकामी जो तं जीवियकारणा ।
वंतं इच्छसि आवेउं, सेयं ते मरणं भवे ॥

शास्त्रों में आया है :

पुरिसित्थि तदुभयं पइ अहिलासो जव्वसा हवइ सोउ ।
थी नर नपु वे उदयो फुंफमतणनगर दाह समो ॥

तृणाग्नि के समान पुरुष की वासना होती है, स्त्री की कंडे की अग्नि के समान और नपुंसक की कामवासना नगरदाह के समान होती है। शास्त्रों में अनेक सतीरत्न स्त्रियों के प्रसंग आते हैं, जिन्होंने अपने सत् और शील की रक्षा के लिए प्राण भी न्योछावर कर दिए। दूसरी ओर कुशील पथगामी स्त्रियों की भी संसार में कमी नहीं है।

दुस्साहस स्त्री का :

बन्धुओं! मैं अभी बता गया था कि कामातुर व्यक्ति को कुछ भान नहीं रहता। पुरुष ही नहीं स्त्रियों के भी इस प्रकार के उदाहरण देखने में आते हैं। वैसे तो स्त्री को अबला, कोमलांगी और स्वभावतः भीरू कहा गया है, लेकिन स्त्री की काम वासना पुरुष से आठ गुणी और कंडे की आग के समान बताई है।

एक स्त्री किसी योगी के साथ सम्बन्धित हो गई। वह प्रति दिन उससे मिलने जाती। नदी पार वह योगी रहा करता था। राजा भोज ने एक दिन रात के समय नगर भ्रमण करते हुए उस स्त्री को अकेली जाते हुए देखा। राजा भोज उत्सुकतावश उसका पीछा करने लगा कि यह कौन है और रात के समय अकेली कहां जा रही है। स्त्री युवती थी। बड़े ही निडर भाव से वह एकाकी जा रही थी। नदी पर आई तो एक शेर वहां पर उसके सामने आ गया। स्त्री ने बड़े ही साहस से अपने भाले से शेर का मुकाबला किया—शेर को घायल किया और नदी पार

करके उस योगी के पास पहुँच गई। राजा भोज बड़े आश्चर्य से यह सारा कौतुक देख रहा था।

बिल्ली से डर गई :

कुछ देर बाद वह वापस आई। नदी पार की। पहले की तरह नदी में मच्छ-कच्छ सामने आए तो भाले से उनको मारती हुई वह अपने घर पहुँच गई। तब तक प्रातः काल होने को था। वह घर के अन्दर चली गई, जैसे कुछ हुआ ही न हो, इस प्रकार दैनिक कार्यों में व्यस्त हो गई। राजा भोज एक झरोखे में खड़ा विचारों में उलझ रहा था। तभी अन्दर कोई बिल्ली कूदी और वह युवती बड़ी जोर से डरने का अभिनय करती हुई चिल्लाई। उसका पति और घर के अन्य लोग उठ कर भागे आए। राजा भोज भी वेश बदले हुए था, सो वह भी प्रकट में आ गया। उसने कहा :

सिंह मारत तरत नदी, मच्छा मारे घाव।
ए सखि मैं तोसे पूछूँ, काहे डरी बिलाव॥

यह दोहा सुनते ही उसका मुँह फक हो गया। वह जान ई कि इस व्यक्ति को मेरी वास्तविकता पता है। बन्धुओं, वासना के वेग में उस स्त्री ने कितना साहस या दुस्साहस दिखाया। यदि हम अपने बल-वीर्य को आत्म शक्ति के अनुसंधान में लगायें तो फिर सम्यग्दर्शन होते देर नहीं लगेगी। 27-8-89

✻

यदि हमें एक बार सम्यग्दर्शन हो जाए, तो कुछ और जानना बाकी नहीं रहता। एक बार आत्मदर्शन हो जाने पर – अपने भीतर की सच्ची छवि को निहार लेने के पश्चात् फिर किसी तरफ देखने की आवश्यकता नहीं रहती। किसी अन्य वस्तु को फिर देखने और जानने में कुछ सार नहीं बचेगा–कुछ आनन्द भी नहीं आएगा। सम्यग्दर्शन का इतना महत्त्वपूर्ण स्थान है, लेकिन आत्मदर्शन प्राप्त करना सहज-सरल भी नहीं है। अवलोकन–और वह भी अन्तरावलोकन – यह विशेष प्रयास की अपेक्षा रखता है।

"ज्ञानं भारः क्रियां बिना"

प्रभुवर थारे द्वारे आव्यो.......................—....................लाव्यो ।

(प्रार्थना पूर्ववत्.............. ....)

गीतिका की पंक्तियों का पुनरावर्त्तन हो रहा है और स्वयं को समझने का प्रयास चल रहा है। भावों की अभिव्यक्ति इस रूप में हुई है कि हे प्रभु, मुझे संसार का ज्ञान बहुत हुआ, परन्तु आत्मा का ज्ञान नहीं हुआ। अतः मुझे ऐसा ज्ञान चाहिए, जिससे मैं स्वयं में स्थित होकर भवबन्धन से मुक्त हो सकूँ। ज्ञानी जन कहते हैं कि यदि सारे संसार का ज्ञान प्राप्त कर लो और निज का —अर्थात् अपनी आत्मा का ज्ञान नहीं लिया तो वह सारा का सारा ज्ञान निरर्थक है। निरर्थक ही नहीं, मिथ्याज्ञान है। शास्त्रकारों ने बताया है कि यदि संसार की समस्त लाइब्रेरियाँ भी अपने दिमाग में भर ली जाएँ, किन्तु सम्यग्ज्ञान नहीं होगा। सम्यग्ज्ञान तो सम्यग्दर्शन के पश्चात्, सम्यक्त्व के दृष्टिजागरण के पश्चात् ही होता है। सम्यग्दर्शन के अभाव में सभी प्राप्त ज्ञान निस्सार ही माना गया है।

ज्ञान व चरित्र का सेतु : सम्यग्दर्शन :

यदि हमें एक बार सम्यग्दर्शन हो जाए, तो कुछ और जानना बाकी नहीं रहता। एक बार आत्मदर्शन हो जाने पर—अपने

भीतर की सच्ची छवि को निहार लेने के पश्चात् फिर किसी तरफ देखने की आवश्यकता नहीं रहती। किसी अन्य वस्तु को फिर देखने और जानने में कुछ सार नहीं बचेगा—कुछ आनन्द भी नहीं आएगा। सम्यग्दर्शन का इतना महत्त्वपूर्ण स्थान है, लेकिन बन्धुओं आत्मदर्शन प्राप्त करना सहज-सरल भी नहीं है। अवलोकन—और वह भी अन्तरावलोकन—यह विशेष प्रयास की अपेक्षा रखता है। कोई भी आत्मानुप्रेक्षी व्यक्ति जब इस दिशा में आगे बढ़ता है, तब उसे काफी कठिनाइयाँ आती हैं, क्योंकि वर्तमान जीवन-पद्धति में इतनी अधिक बुराइयों का समावेश हो चुका है, कि अपने अवगुणों पर दृष्टिपात करना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य प्रतीत होता है। इसके अतिरिक्त आज ज्ञान सहित आचरण का भी प्रायः अभाव हो गया है।

जहाँ ज्ञान साधना दिखाई देती है, वहां आचरण को महत्व-हीन करके उपेक्षित कर दिया जाता है और जहां आचरण को महत्त्व दिया गया है, वहां ज्ञान को महत्त्व नहीं दिया गया। आज के समाज को यह विस्मृत प्रायः सा हो गया कि ज्ञान बिना धर्म अन्धा है और चारित्र बिना ज्ञान पंगु है। इन दोनों की एकता बिना गति नहीं है और एकता के लिए चाहिए सुव्यानयुक्त विवेक, जिसे सम्यग्दर्शन कहते हैं।

अनन्त स्वरूप : सीमित दायरों में आबद्ध :

आज के अधिसंख्यक भक्ति-साधकों की स्थिति प्रायः इसी प्रकार की चल रही है वे परमात्मा की अपार शक्ति को अपनी

प्रार्थना की शब्दावली के सीमित दायरे में बाँध देना चाहते हैं, किन्तु अनन्त स्वरूप को सीमित परिधि में बाँधने का प्रयास क्या हास्यास्पद नहीं है ? इसके लिए तत्वद्रष्टाओं ने मार्ग सुझाया है कि हमें ज्ञान व आचरण को आत्मदर्शन का सेतु मान कर गति करनी चाहिए। यदि ज्ञान व आचरण दोनों का ही सम्मिश्रण हो जाए तो फिर कोई बाधा नहीं है—आत्मस्वरूप की उपलब्धि में उसके बाद कुछ संशय नहीं रहता।

अज्झत्यमेव पस्स :

प्रभु महावीर ने कहा है—'अज्झत्यमेव पस्स'—अर्थात् अपने भीतर ही झांको। तुम्हारे अन्तर में ही आनन्द स्वरूप परमात्मा विराजमान है और वहीं तुम्हें आत्मदर्शन होगा। अन्तर में झाँकने का तात्पर्य आत्मा की अन्तरंग शक्तियों का सच्चा ज्ञान प्राप्त करना है। वर्तमान में ऐसी साधना की अल्पता देखने में आती है। कहीं ज्ञान को महत्त्व दिया जाता है, लेकिन आचार को गौण कर दिया जाता है और कहीं आचरण को मुख्यता का स्थान दिया जाता है, तो ज्ञान को गौण मान लिया जाता है। इन दोनों के बिखराव के कारण ही यह अनन्त शक्ति सम्पन्न आत्मा पराधीन बनी हुई है। विषय विकारों की छोटी से छोटी नगण्य शक्तियाँ प्रभुत्व जमाए बैठी हैं—अपने आप में अशक्त काषायिक वृत्तियाँ आत्मा की अनन्तगुणी शक्ति को दबोच रही हैं।

वनराज और मक्खियाँ :

बन्धुओं, हमारी आत्मा की स्थिति उस वनराज की तरह हो रही है जो हर प्रकार से महान् शक्ति सम्पन्न है, मगर जब मध्याह्न के समय वह अतुल पराक्रमी सिंह वन में सोता है, तब मक्खियाँ उसे चैन से सोने नहीं देतीं। वे नन्हीं-नन्हीं मक्खियां भी प्रबलतम शक्ति सम्पन्न उस मृगराज को परेशान कर देती हैं। ठीक यही स्थिति अनन्त शक्ति सम्पन्न हमारी आत्मा की है। ईर्ष्या, द्वेष, घृणा और वासना के छोटे-छोटे किटाणु हमारे भीतर बैठे हैं, जो आत्मा की दिव्य ज्योतिर्मय शक्ति को दबा रहे हैं। उस प्रकाश को पाने के लिए हमारी कोशिश होनी चाहिए, लेकिन जन्म पर जन्म व्यतीत हो जाने पर भी हम उस ज्योति तक नहीं पहुँच पाते। इसका क्या कारण है ? क्या आपने कभी इस विषय पर एकान्त के क्षणों में चिंतन-मनन किया है ?

आत्मविमुखता क्यों ?

बन्धुओं, सतत प्रयास और तड़प होने पर भी हम उस आत्म स्वरूप को नहीं प्राप्त कर सके इसका मुख्य कारण है कि हमारी साधना में सम्यक्त्व का रंग नहीं है। हमारी आत्मोन्मुख साधना ज्ञान और आचरण की संयुक्तता की दृष्टि से अपूर्ण है, इसी कारण से हम आत्म दर्शन के स्वरूप से वंचित हैं।

एक किसान खेती करता है किन्तु भूमि को सम्यग् प्रकार से साफनहीं करता है-तैयार नहीं करता है अर्थात् जमीन में रहे हुए

कंकर-पत्थर और व्यर्थ का कचरा-कांटा वह साफ नहीं करता है। इसके अतिरिक्त समय पर खाद भी नहीं डालता है। खेती के लिए जमीन को जिस रूप में तैयारी चाहिए, उस रूप में वह नहीं करता है, तो क्या उसकी खेती कुछ उपयोगी सिद्ध होगी ? आप सभी सुज्ञ बुद्धिशील एकदम कह देंगे कि उसका खेती करना बिल्कुल निरर्थक है, यदि वह जमीन को ठीक नहीं करता। ठीक यही स्थिति हमारे जीवन रूपी खेत की भी है। वन्धुओं, 50-60 या 80 वर्ष तक बीत जाते हैं– वर्ष ही नहीं जन्म-जन्म खप जाते हैं और हम आत्मदर्शन रूपी फसल के फल के लिए– सम्यग्दर्शन रूपी खेती के लिए अपने भावों की जमीन तैयार ही नहीं कर पाते। अनन्त-अनन्त भव-चक्रों में परिभ्रमण हमारा चलता है और एक बार भी हमें सम्यक्त्व का – आत्म बोध स्पर्श नहीं हो पाता।

नौका पार लगाती है :

एक व्यक्ति नदी के किनारे खड़ा था। उसे नदी पार करके दूसरी ओर जाना था। उसने इधर उधर देखा। एक नौका तट पर दिखाई दी। वहां नाविक नहीं था। नौका की रस्सी एक खूँटे से बाँध कर वह कहीं चला गया था। नदी पार करने की हड़वड़ी में वह व्यक्ति नौका के पास जाकर उसका लंगर खोलने लगा। नाव में जाकर बैठ गया। कुछ व्यक्ति बोले– "क्या तुम्हें बहुत जल्दी है ?" वह बोला– "मुझे उस पार स्थित गाँव में

जाना है।" लोगों ने पूछा– "तुम इस प्रकार नाव लेकर चल दिये हो। क्या तुमको नाव चलानी आती है?" वह बोला– "नहीं, मैंने तो आज तक कभी नाव नहीं चलाई।" तब अन्य व्यक्ति बोले– "यदि तुम्हें नौका चलाना नहीं आता है, तो नदी कैसे पार करोगे?" इस पर वह उत्तर देता है– "मैं तो नौका में बैठ गया हूँ। मैंने सुना है कि नौका में बैठने से व्यक्ति किनारा पा लेता है। मुझे मालूम है कि नौका पार लगाती है।"

नाव को भी डुबा दोगे :

उस व्यक्ति की नासमझी पर तरस खाते हुए एक व्यक्ति ने कह दिया– "महाशय, पहले नौका चलाना और उसमें आने वाले खतरों का सामना करना सीखो। बाद में इसमें बैठना, वर्ना तुम्हारे साथ-साथ नाव भी डुब जाएगी।" लेकिन वह हठी व्यक्ति नहीं मानता। वह कहता है– "मुझे तो नौका ही पार लगा देगी, चलाना सीखने की मुझे कोई जरुरत नहीं है।" किसी की भी बात न मान कर वह नौका में बैठ गया। हवा के रुख की दिशा में ही नौका चलने लगी। वह एकदम प्रसन्नता से चीखा–"देखो-देखो, नौका मुझे ले जा रही है। आप लोग भी चाहो तो पार पहुँचने के लिए मेरे साथ आ जाओ।" अन्य लोग बुद्धि सम्पन्न थे। वे जानते थे कि आगे क्या होने वाला है। हवा के बहाव के साथ ही नौका कभी आगे-कभी पीछे को चलने लगी। जब उसको चलाने वाले में ही विवेक नहीं है तो फिर नौका का क्या दोष?

अचानक तेज हवा का तूफान आया और वह नौका डूब गई। उस अज्ञानी ने अपने साथ-साथ नाव को भी डुबो दिया।

बन्धुओं वर्तमान की आत्म साधकों की भी यही हालत है। वे चारित्र रूपी नौका में बैठकर पार होना चाहते हैं, मगर उनमें सम्यग्दृष्टि ज्ञान का अभाव है। चारित्राराधन में होने वाले दोष और उनके निवारणों का उन्हें ज्ञान नहीं है, अतः ऐसी स्थिति आने पर उनके नियंत्रण की योग्यता उन साधकों में नहीं होती, फलस्वरूप वे ज्ञान-चारित्रीय योग की महत्ता से अनभिज्ञ बने रहते हैं। सम्यग्दर्शन के बहुल प्रयास करने पर भी सम्यग्दर्शन से दूर ही रह जाते हैं।

अपने समान सब :

जिस व्यक्ति की यह भावना जागृत हो जाएगी कि जिस प्रकार मेरी आत्मा है, वैसी ही संसार के समस्त चराचर प्राणियों की आत्मा है, वह सभी प्राणियों को मित्रवत् समझेगा और किसी को भी कष्ट नहीं पहुँचाएगा, बल्कि अन्य दुःखी प्राणियों के लिए अपना सर्वस्व उत्सर्ग कर देने को सहर्ष तत्पर रहेगा। उस व्यक्ति का आचरण उत्कृष्ट बन जाएगा। ऐसी स्थिति को पहुँचा हुआ व्यक्ति आत्मदर्शन के द्वार पर सहज ही जा पहुँचेगा। वह सम्यग्-दृष्टि बन जाएगा। सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि का अन्तर तो आप लोग समझते हैं ? मिथ्या दृष्टि वह होता है जो सत्य को असत्य कह सकता है और असत्य को सत्य बता देता है। मिथ्या

दृष्टि व्यक्ति के ज्ञान को शराबी के ज्ञान के तुल्य माना है। तत्वार्थ सूत्र में आचार्य उमास्वति ने कहा है :

सदसतोर विशेषाद् यदृच्छोपलब्धेरुन्मत्तवत् ।

जिस प्रकार शराबी नशे में बेभान हो कर माँ को मां भी कह देता है और माँ को पत्नी भी कह सकता है और पिता को पिता भी कह देता है और पुत्र भी कह सकता है। यानि उसे सत्य-असत्य का सही ज्ञान नहीं होता है। वह नहीं जानता है कि वास्तव में सत्य क्या है ? मैं क्या कह रहा हूँ ? जो मैं कह रहा हूं, वह वस्तु के अनुरूप है अथवा प्रतिरूप है ? इसीलिए शस्त्रकारों ने मिथ्या दृष्टि के ज्ञान को अज्ञान और सम्यग्दृष्टि के ज्ञान को सही ज्ञान के रूप में प्रतिष्ठित किया है।

सम्यग्दर्शन के अभाव में वस्तु का ऊपरी आवरण ही देखा जा सकता है। उसका अन्तरंग स्वरूप देखने की योग्यता तो सम्यग्-दर्शन के बाद ही मिल पाती है। वह बाहरी दर्शन केवल द्रव्यदृष्टि है– द्रव्यदर्शन है किसी वस्तु का मूल में कितना महत्व है, वह कितनी उचित और किस सीमा तक अनुचित है, इसके लिए सम्यग्दृष्टि ज्ञान ही सही परिचायक है।

आत्मदर्शन को अन्तर दृष्टि आवश्यक :

आत्मदर्शन के लिए अन्तरदृष्टि की जरूरत होती है। इन चर्म-चक्षुओं से हम बाह्य आवरण को ही देख सकते हैं, किन्तु आत्मा का अवलोकन नहीं कर सकते। उस आत्मानुसंधान में

लिए तो अन्तर की सूक्ष्म दृष्टि आवश्यक होती है। यही कारण है कि जिस समय भगवान महावीर की देशना चल रही थी, उस समय प्रभु ने गणधर गौतम से कहा :

न हु जिणे अज्ज दिस्सई, बहुमए दिस्सई मग्गदेसिए ।
संपईए ने आउए पहे समयं गोयम ! मा पमायए ॥

प्रभु ने कहा—"गौतम, तुम आज के समय में जिनेश्वर भगवन्तों को नहीं देख सकते हो, क्योंकि बहुत प्रकार के पंथ-संसार में नजर आते हैं जो प्रभु ने बताए हैं वे रास्ते अनेक हैं। उनमें से न्यायमार्ग को ठीक से समझ कर तुम अप्रमादी वृत्ति से आगे बढ़ो।"

बन्धुओं, बात बड़ी विचित्र लगती है। स्वयं जिनेश्वर ही विराजमान हों और कहें कि हम जिनेश्वर भगवन्तों को देखने में समर्थ नहीं हैं। इस कथन का मूल भाव यह है कि जिनेश्वर को देखने के लिए केवल ज्ञान की—अन्तरचक्षुओं की आवश्यकता होती है। इन चर्म-चक्षुओं के द्वारा हम उन्हें सम्पूर्णतया नहीं देख पाते। इन नेत्रों से प्रभु के बाह्य शरीरादि अवयवों का ही दर्शन सम्भव है, किन्तु उनकी अन्तर्निहित सर्वज्ञता और श्री सम्पन्नता को नहीं देख सकते।

बन्धुओं, एक स्थान पर कहा गया है—

जिनो भूत्वा जिनं पश्येत।

अर्थात् आत्मा का अगम, अगोचर अरूपी ... से

भी सूक्ष्म होता है। उस दिव्य स्वरूप को केवलज्ञान के द्वारा ही जाना जाता है। आत्म दर्शन अपने स्वरूप में विलीन होने से या आत्मवत् भाव के विकास की अवस्था से ही हो सकता है। जब हमारे में यह जागरण हो जाए, हम अपने भीतर में झाँक लें, तो हमारे मन में संसार के समस्त छोटे-बड़े प्राणियों के प्रति आत्मीयता उत्पन्न हो जाए। फिर कोई हमारा शत्रु नहीं होगा हमें शत्रु भी मित्र के जैसे दिखाई देने लग जाएँगे और हम लघुतम प्राणी के सुख के लिए अपने महत्तर सुख को त्याग देने को तैयार और प्रस्तुत होने के भावों में जायेंगे।

इतिहास इस बात का साक्षी है कि हमारे यहाँ ऐसे अनेक राजा-महाराजा हुए हैं जो जनता के दुःख को जानने के लिए रात में अपना वेश बदलकर विचरण करते थे। वे प्रजा के दुःखों को जान लेने के लिए आकुल-व्याकुल रहते थे। किसी को भी दुःखी नहीं देख सकते थे। वे यदि देखते थे कि मेरे एक जीवन से हजारों लोगों का जीवन बच रहा है, तो वे अपना अनाम-उत्सर्ग कर देते थे। बहुत से उदाहरणीय व्यक्तित्वों का तो बलिदान नींव की ईंट के समान अदृश्य और अप्रचारित ही रह जाता था, किन्तु नाम की कीर्ति को भी उपेक्षणीय मान कर त्यागने वाले वे वीर पुरुष ऐसे अवसर पर सहर्ष बलिदान हो जाते थे। वे इसलिए ऐसा करते थे, कि उनमें सम्यग्दृष्टि भाव का जागरण हो जाता था या वे अन्य सभी को अपनी आत्मा के तुल्य ही समझते थे। जैन ग्रन्थों में इस

प्रकार के हजारों उदाहरण आपको मिल सकते हैं, जिन्होंने अपने प्राणों से अधिक महत्त्व दूसरों को दिया है।

आदर्श व्यक्तित्व :

जयपुर की घटना है। जब भारत पर ब्रिटिश पार्लियामेंट का शासन था, तब जयपुर में ब्रिटिश पोलिटिकल एजेन्ट का अधिकार था। वहां पर एक जैन श्रावक भी अध्यक्ष के पद पर था। उस समय ब्रिटिश पोलिटिकल एजेन्ट बड़ा ही क्रूर व्यक्ति था। वह जिस जगह रहता था, वहां के लोगों में उसका आतंक व्याप्त था। उस पूरे क्षेत्र में कोई व्यक्ति किसी प्रकार की गंदगी नहीं कर सकता था। यदि कोई बच्चा भी कहीं पर कूड़ा डाल देता तो वह उसके साथ बड़ा दुर्व्यवहार करता था।

सभी लोग उस अधिकारी की क्रूरता से बड़े दुःखी थे, लेकिन क्या करते ? वे परस्पर सोचा करते–"शासन इतना निर्दयी नहीं होना चाहिए, ऐसा दुर्व्यवहार कैसे सहन किया जा सकता ? पहले के राजा लोग भी शासन करते थे–अनुशासन भी रखते थे, लेकिन क्रूरता कभी न करते थे।"

अतः एक दिन सबने मिलकर निश्चय किया कि एक बच्चे को बाहर भेजते हैं। यदि अब वह किसी को मारेगा तो हम सब मिलकर उसकी बूरी तरह पिटाई करेंगे। समस्त बात को गोपनीय रखते हुए वे लोग एक स्थान पर छिप गए। अपने हाथों में सबने हथियार-डंडे इत्यादि ले लिए। इधर कुछ बाद ही वह

अधिकारी आया। उसने छोटे-से बच्चे को सड़क के एक ओर नाली पर लघुशंका करते हुए पाया, तो उसका पारा सातवें आसमान तक पहुँच गया। वह उस बच्चे को मारने लगा, तभी इधर उधर छिपे व्यक्ति बाहर आए और उसकी अच्छी खातिर कर दी। लोगों में असन्तोष और घृणा इस कदर फूट रही थी कि वे मारते ही गए—अन्त में वह निष्प्राण होकर वहीं सड़क पर गिर पड़ा।

बात ब्रिटिश पार्लियामेन्ट तक पहुँची। वहाँ का सर्वोच्च अधिकारी बड़ा कुपित हुआ। जनमानस की जागृति से अंग्रेजों को बगावत की बू आने लगी। तुरन्त आदेश जारी हुआ कि जयपुर को चारों ओर से घेर कर तोपों द्वारा पूरा नगर ही नष्ट कर दिया जाए। यह आदेश उस जैन श्रावक के पास पहुँचा, जो जयपुर में अध्यक्ष था। उसने सोचा कि कुछ लोगों की गलती से सारे राज्य पर उपसर्ग आ गया है। हजारों-लाखों बेगुनाह बेमौत मारे जायेंगे, अतः कुछ करना चाहिए। उसका हृदय सभी के लिए अपार अनुकम्पा से भर गया। वह सोचने लगा कि सारे नगर की रक्षा किस प्रकार सम्भव है? अचानक ही उसके मन में विचार आया—"यदि मैं सारे नगर की रक्षा का दायित्व अपने .प. ले लूँ, तो क्या ही अच्छा रहे! यदि मेरे एक व्यक्ति के जीवन से हजारों निरपराधी व्यक्ति बच जाएँ तो इससे बढ़कर खुशी की बात मेरे लिए और क्या हो सकती है?" उसने अपने पुत्र को बुलाकर अपना निर्णय बताया और कहा—"बेटा, एक दिन

तो मौत आनी ही है। मुझे भी आज नहीं तो कल मरना ही है। अतः यदि ऐसे शुभ कार्य में मेरे प्राणों का उत्सर्ग होगा तो इससे बड़ा पुण्य और कुछ नहीं हो सकता ?"

अपने पिता की इतनी उच्च भावना को देखकर पुत्र कुछ न बोल सका। उसका हृदय पितृ प्रेम से भी अधिक अपने पिता के इस अदम्य त्याग के समक्ष झुक गया। वह बोला—"यदि आपने ऐसा ही निर्णय लिया है तो ठीक है। जैसे आपको सन्तोष व सुख हो, वही करें।"

उस अध्यक्ष ने अधिकारी को पत्र लिखा—"मैं आपसे प्रार्थना करता हूँ कि एक व्यक्ति के लिए सम्पूर्ण जयपुर का विनाश न किया जाए। दोषी मैं हूँ, जो दण्ड चाहें आप मुझे दे सकते हैं।" अधिकारी को यह बात जम गई। सेनाएँ शहर से हटा ली गईं और उसे फाँसी की सजा सुना दी। सभी व्यक्तियों में उस जैन श्रावक के प्रति श्रद्धा उमड़ पड़ी जिसने अपने जीवन का उत्सर्ग परोपकार के हित हँस कर कर देने का फैसला कर लिया था। निश्चित दिन उसे फाँसी के तख्ते की ओर ले जाया जा रहा था, उस समय सैकड़ों दिल उसके लिए तड़प रहे थे। सबकी आँखों से आँसुओं की धारा बह रही थी। वह महान् संकल्प शक्ति लेकर अविचलित भाव से आगे बढ़ रहा था। किसी प्रकार की कोई व्यग्रता उसके विचारों में नहीं थी। सभी से शांतिपूर्वक क्षमा याचना करते हुए वह आगे बढ़ रहा था। जैसे ही वे फाँसी

के फन्दे तक जाने वाली सीढ़ियों पर चढ़े कि लोगों ने जयध्वनि के साथ उनका धन्यवाद किया। केवल तीन सीढ़ियां ही चढ़ने से शेष बची थीं, तभी उस महान् आत्मा को हार्ट फेल हो गया, वे फाँसी के बिना ही अपने जीवन की लीला समाप्त कर गए। सभी ने अनन्य श्रद्धा से उनको श्रद्धांजलि देते हुए मस्तक झुका दिए।

बन्धुओं, उस समय सम्यग्दृष्टि भाव की चरमोत्कृष्टता होती है, जब कोई व्यक्ति ऐसे उत्सर्ग के पथ पर कदम बढ़ाता है। यह ऐतिहासिक घटना मैंने आपके समक्ष इसलिए रखी है कि सम्यग्दृष्टि भाव का जागरण क्या होता है–उसमें किस प्रकार भावों की उच्चता चरमता तक पहुँचती है, यह आप सभी समझ सकें। उस समय के राजा-महाराजा ही नहीं जन साधारण भी कैसे होते थे, यही यह आदर्श घटना प्रकट करती है।

आज की क्या हालत बन रही है। रक्षक ही भक्षक बन रहे हैं। यही कारण है कि आज चारों तरफ भय व आतंक तथा असुरक्षा की भावना व्याप्त है। यदि हमारा चरित्र समुन्नत बन जाए तो देश की और समाज की रीढ़ मजबूत हो जाए। एक व्यक्ति से समाज बनता है–समाज से गांव–शहर और राज्य बनते हैं राज्य से देश और फिर सारा विश्व उस पराकाष्ठा पर आकर सम्यक् द्रष्टा बनने का संकल्प जगाता है। प्रत्येक व्यक्ति विश्व की एक इकाई है। अपने को सब सुधारें तो संसार का सुधार भी होने का अवसर है। इसी मंगल भावना के साथ............

28-8-85

पर्युषण पर्व आत्मा की अन्तर्यात्रा करने के पर्व हैं। हमारे ठहराव दो दिशाओं में हो सकते हैं- एक दिशा हैं बाहर की- भौतिकता के ठहराव की, जो बाहरी चौराहों की दिशा कहीं जा सकती हैं। दुसरी विधि है आत्मा की गहराई को जानने की- आत्मा में गहरे उतरने की। जब हम अपनी आत्मा की गहरी पर्तों में डुबने लगते हैं- गहरे उतरते जाते हैं तब ही आत्मा के रहस्यों के परदे एक-एक करके हटने शुरू हो जाते हैं। जितना गहरा हम आत्मा में उतरते हैं, आत्मा की अन्तर्यात्रा उतनी ही सुखद निष्काम और आनन्दमय बनती चली जाती है। बाहर की यात्राओं में सतहों पर- ऊपरी धरातलों पर घुमना होता हैं और अन्तर्यात्रा में मूल तक उतरना होता है।

"महापर्व पर्यूषण"

तर्ज : संगठन की वीणा बजने दो....................

महापर्व पर्यूषण जयकारी, ये दुःखहारी मंगलकारी ।
मंगल घड़ियां ये आई हैं, जन-जन में हर्ष बधाई है ।
फहरेगी धर्म ध्वजा प्यारी ।। महापर्व....

संदेश सुहाना लाते ये, आध्यात्मिक भाव जगाते ये ।
सिखलाते मैत्री प्रियकारी ।। महापर्व....

संज्ञान ज्योति जगाएँ हम, अज्ञान तिमिर विनशाएँ हम।
खिले आत्मज्ञान की फुलवारी ।। महापर्व....

सब वैर विरोध विसारें हम, शुद्ध प्रेम पंथ स्वीकारें हम ।
बहे स्नेह की गंग यहां भारी ।। महापर्व....

क्रोधादिक शत्रु शमन करें, गुणीजन के चरणों नमन करें ।
ना बनें कभी भी अहंकारी ।। महापर्व....

आलोचन विगत वर्ष का हो, अब अन्त सभी संघर्ष का हो ।
सब खमें खमाएँ नर नारी ।। महापर्व....

मंगलमय जीवन बन जाए, कलिमल सारे ही विनशाएँ ।।
शुभ "शान्ति" मिलेगी श्रेयकारी ।। महापर्व....

पर्वराज का चिरप्रतीक्षित आगमन :

गीतिका की पंक्तियों में प्रासंगिक संकेत प्रस्तुत किए गए हैं। चिरकाल से प्रतीक्षित पर्वराज पर्यूषण का आगमन हो चुका है। आज से पर्यूषण पर्व शुरू हो रहे हैं। यह बताया जा चुका है कि भारत पर्वों का देश है। यहां सैंकड़ों तरह के पर्व मनाएं जाते हैं। पर्व दो प्रकार के माने गए हैं। एक लौकिक पर्व जो कि बाह्य आमोद-प्रमोद वाले—शरीर और इन्द्रियों को पुष्ट करने वाले—दूसरे लोकोत्तर पर्व जो आत्मा के विशुद्धिकरण में सहायक बनकर अपने चैतन्य की ओर अभिमुख कराने वाले होते हैं।

पर्व का अर्थ :

वैसे तो 'पर्व' शब्द के अनेक प्रकार अर्थ किए जाते हैं, किन्तु यहां साधारण रूप में पर्व का तात्पर्य है—वे पुनीत दिवस जो आम दिनों के कुछ हटकर– कुछ भिन्न प्रकार की आनन्दकारी अनुभूति करायें, वे पर्व दिवस कहलाते हैं। कुछ पर्व तो लौकिक मनोरंजन से पूर्ण होते हैं और कुछ आध्यात्मिक पुष्टि और जागरण कराने वाले पर्व होते हैं। पर्यूषण पर्व आत्मा की संपुष्टि के पर्व हैं। इन दिनों शारीरिक सुख-सुविधाओं की व्यवस्थाओं से हटकर आत्मिक सुख और आत्मिक शान्ति की खोज करने की दिशा में उन्मुख होते हैं।

[पर्यू]षण शब्द की व्युत्पत्ति :

'पर्यूषण' शब्द का शाब्दिक अर्थ समझें तो बड़ा गहन भाव

इस शब्द की व्युत्पत्ति में निहित है। 'पर्यूषण' कैसे बना–'परि' उपसर्ग सहित वस् धातु के साथ 'अन्' प्रत्यय लगाकर यह 'पर्यूषण' शब्द बना है। भाषा भंडार के तीन महत्त्वपूर्ण आयाम उपसर्ग, प्रत्यय और धातु-तीनों ही इस शब्द में रहे हुए हैं। 'परि' का अर्थ होता है–चारों ओर वस् धातु का अर्थ 'रहना' और 'अन्' प्रत्यय लगाने से विशेष गत्यर्थ में होकर कुल पर्यूषण शब्द का अर्थ हुआ–विशेष प्रकार से रहना अथवा अपने चारों ओर के परिवेश में विशेष रीति से रहना।

'पर्यूषण' शब्द का व्युत्पत्ति-विश्लेषण बहुत कुछ इसका स्वयं ही परिचय भी दे रहा है और पर्यूषण पर्व की विशेषताओं पर भी प्रकाश डाल रहा है। पर्यूषण पर्व वे दिन होते हैं, जिन दिनों में हम अपने बाह्य जीवन के सुखों से हटकर आन्तरिक सुख की खोज में चलते हैं। ये वे विशेष दिवस हैं, जो ज्ञानाराधन और चारित्रपालन की दृष्टि से जैनदर्शन में सर्वोत्कृष्ट महत्त्व के बताए गए हैं।

पर्यूषण पर्व का महत्त्व :

पर्यूषण पर्व के आठ दिनों में हमारी विशेष गति होने से इन पर्वों का विशेष महत्त्व माना गया है। पर्यूषण का मुख्य रूप में अर्थ है चारों ओर से अपनी आत्मा के निकट रहना। बाकी सभी दिनों में हम शरीर के प्रति–खान-पान, रहन-सहन के प्रति सजग रहते हैं, लेकिन इन आठ दिनों में अच्छे खान पान रहन-सहन की

ओर नहीं, बल्कि त्याग व तप की ओर हमारी प्रवृत्ति होती है। इन दिनों में छोटे-छोटे बच्चे में भी उपवास-एकासना आदि करने की धुन सवार होती है। बच्चे-बच्चे में धर्म लगन देखी जाती है। वैसे तो अन्य पर्वों, त्यौहारों में बच्चे मिठाई-खिलौने और नए-नए कपड़ों के लिए मचलते हैं। रक्षाबन्धन को बरफी, रसगुल्ला-–दीवाली को पटाखे मिल जाएँ–लेकिन इन दिनों में बच्चों में भी त्याग का उत्साह दिखाई देता है। ये पर्व त्याग का संदेश देते हैं–आत्मा के निकट होने का संदेश देते हैं। 365 दिन संसार के प्रति हम संलग्न होते हैं, उनमें से ये 8 दिन प्रेरणा देने आते हैं कि बाह्य यात्रा से अलग हटकर अन्तर्यात्रा में प्रवेश करो।

7 दिन पूर्व ही तैयारी शुरू :

हमारा बाहर का जीवन किस प्रकार का–यह विश्लेषण करने के लिए हम पर्यूषण पर्वों का सहारा लेते हैं। पर्यूषण पर्व में मुख्य पर्व संवत्सरी का दिन है-शेष 7 दिन उसकी तैयारी के होते हैं–ये 7 दिन हैं जैसे दीपमालिका एक दिन ही होती है, किन्तु घरों की सफाई, पुताई कितने दिन पहले से शुरू हो जाती है। कुछ दिनों पहले ही दीवाली के हर्षोल्लास में सजावट के कार्य भी होने लगते हैं। ठीक इसी प्रकार ज्ञानी जन कहते हैं कि महापर्व संवत्सरी के 7 दिन पूर्व हम संवत्सरी पर्वाराधन की तैयारी करते हैं। क्या तैयारी ? हमारी बाहर की तैयारी नहीं, भीतर की अन्तर्यात्रा की-आत्मा की सफाई की तैयारी। दीवाली पर मकानों की–

दुकानों की सफाई करते हैं, लेकिन इन दिनों में अन्तर का लेखा-जोखा करते हैं। दीपावली पर नया हिसाब—नया खाता शुरू करते हैं और संवत्सरी पर तथा इन 7 दिनों में आत्मा का खाता जांचते हैं। पूरे वर्ष का हिसाब लगाया जाता है कि वर्ष भर में मैं कितना तप त्याग—कितनी तपस्या कर सका। कितना मेरा जीवन उच्च और कितना निम्न भावों में बीता—पर निंदा कितनी की—इन दिनों में यह सारा चिन्तन होता है। अपना अन्तर्मन टटोल-कर देखते हैं। पिछले वर्ष में मैंने कितना आत्मा का ख्याल रखा है और कितना पर भावों में भागा हूँ।

ज्योतिपर्व :

दीवाली को आय-व्यय का खाता देखते हो, यहां भी वर्ष भर का पुण्य कार्य और पाप-कार्य का हिसाब लगाने के लिए ये पर्यूषण पर्व आते हैं। 7 दिन का समय हमें प्राप्त होता है—केवल आत्म चिन्तन के लिए। बाहर के सारे क्रिया-कलापों से हटकर आत्मा के निकट होने का प्रयास करने के लिए। ये आत्म-शुद्धि के पर्व—जिन्हें हम ज्योतिपर्व भी कह सकते हैं पर्यूषण पर्व होते हैं। वैसे दीपावली को ज्योतिपर्व कह दिया करते हैं, लेकिन यह नाम दीपावली का लाक्षणिक द्रव्य नाम है—द्रव्य निक्षेप है, भाव निक्षेप नहीं। दीवाली में भी दीपकों का प्रकाश करके अन्धेरी अमावस को ज्योतित करने का प्रयास होता है, इस दृष्टि से ज्योतिर्मय पर्व दीवाली को—दीपमालिका पर्व भी कह देते हैं। दीवाली भी ज्योति का पर्व इस अपेक्षा से होता है, लेकिन बाहर

में दीपक प्रज्ज्वलित किए जाते हैं पर्यूषण पर्व को ज्योति पर्व कहने का कारण यह है कि इसमें अन्तंज्योति का जागरण होता है। बाहर की ज्योति नहीं–अन्तर की ज्योति अर्थात् आत्मा के अनंत सूर्यों का प्रकाश इसमें प्राप्त होने से इसे ज्योति पर्व कहा जाता हैं। दीवाली पर भी दीपक जलायेंगे तभी अन्धेरा दूर होगा, इसी प्रकार पर्यूषण पर्वों में आत्मा में रही हुई अखंड-अनन्त ज्योति को खोजने का प्रयत्न करना होता है।

पर्यूषण प्रतिवर्ष :

यों तो पर्यूषण पर्व प्रतिवर्ष मनाते हैं–वही पुराना ढर्रा–वही लीक के अनुसार कुछ जप-तप आदि कर लिए जाते हैं। बन्धुओं, ये सारी बाहरी क्रियाएँ हैं। होना यह चाहिए कि पर्यूषण पर्वों के माध्यम से अन्तरंग में ऐसा जागरण हो–ऐसी अन्तंयात्रा हो, कि जीवन बदलने लगे। हमारे कालुष्य–रागद्वेप समाप्त हों। वीतराग भाव की ओर आत्मा बढ़े, लेकिन यह है कब ? अधिकांश में रुढ़िवादिता से मना लेते हैं। रुढ़िवादिता से केवल द्रव्यरूप में पर्यूषण पर्व मना लेना अधिक लाभप्रद नहीं होता। पर्यूषण पर्व का जो विशेष आशय है, यदि उस भाव का–स्वयं को रूपांतरित करने का प्रयत्न नहीं किया तो पर्यूषण पर्व का क्या लाभ ? केवल लकीर पीट देना ही तो होगा।

शास्त्र विवेचना क्रम :

पर्यूषण पर्व के 7 दिनों में विशेष शास्त्र-पाठन का क्रम

चलता है। प्रातः अंतगड सूत्र का मध्यान्ह में कल्प सूत्र का विवेचना होता है। अन्तगडसूत्र के वर्णन में आता है—जिन्होंने जन्म-मरण का अन्त कर लिया उनका और उन भावों का विवेचनात्मक वर्णन अन्तगडसूत्र में मिलता है। जीवन का अन्त करना--किस जीवन का? अर्थात् संसार के भ्रमण रूपी जीवन का अंत करना। जो परम मुक्ति को पहुँच चुकी हैं, ऐसी महान् आत्माओं का विशद वर्णन हमें अन्तगडसूत्र में पढ़ने को मिलता है।

बन्धुओं, वे आत्माएँ किस प्रकार बन्धन से मुक्त हो सकीं? उनके जीवन का पूर्ण विवरण सुन-पढ़कर हमें ज्ञान होता है, कि कैसा वैभवमय जीवन था उनका! ऐसे सुविधायुक्त-ऐश्वर्य पूर्ण जीवन को कैसे उन आत्माओं ने क्षण में तृणवत् ठोकर मार दी। ऐसी उच्चात्माएँ जिन्होंने जन्म मृत्यु को समझा। इस प्रकार की आत्माएँ ही परमधाम की गति को वरण करती हैं, जिन्होंने केवल जीवन को ही नहीं, वरन् मृत्यु को भी समझा। मोक्ष प्राप्ति के लिए केवल जीवन को समझना ही पर्याप्त नहीं—मृत्यु को भी समझना होता है। जीवन के साथ मृत्यु को हम भूल जाते हैं अथवा भूलने की कोशिश करते हैं। इसीलिए श्मशान घाट से दूर रहा करते हैं। जीवन पर मृत्यु की परछाई न पड़े, इसकी विशेष चेष्टा हमारी रहा करती है, लेकिन बन्धुओं, मृत्यु तो जीवन के क्षण-क्षण के साथ संलग्न है। मृत्यु को भूलना नहीं है, उसे तो प्रतिपल याद रखना है। यदि मृत्यु को हर क्षण याद

रख लें, तो जीवन की धारा ही बदल जाए, लेकिन हम मृत्यु को भुलाने का प्रयास करने में लगे रहते हैं।

तुझ को लेने आई हूं :

एक सम्राट था। बड़ा ही यौवन और शौर्य से परिपूर्ण! वह बहुत साहसी और निडर था। अंगरक्षक भी साथ नहीं रखता था। सब सभासद आदि कहते, "महाराज आपको अंगरक्षक तो साथ रखने ही चाहिएँ।" वह कहता-"मुझे क्या आवश्यकता है इनकी ? क्या मैं डरपोक हूँ, जो प्रतिपल मेरी सुरक्षा करने वाले मेरे साथ रहें ?" इस पर मंत्री सुझाव देते–"महाराज, सुरक्षा की दृष्टि से न सही, आप अंगरक्षक अपनी शान की दृष्टि से रखें। एक राजा की विशेष-शान-शौकत का प्रतीक होते हैं ये अंगरक्षक, अतः आप इन्हें साथ रखा कीजिए।" सब तरह-तरह से उसे समझाते लेकिन राजा नहीं मानता। उस सम्राट को तो वे बन्धन स्वरूप प्रतीत होते थे। मनमौजी स्वभाव का वह सम्राट ठहरा। जो उसके मन में आता, वही करता, और अंगरक्षकों के होने से उसके कार्यों में व्यर्थ का व्यवधान पड़ा करता था। अतः वह तो अकेला ही रहता। कर्मचारियों ने भी समझ लिया कि ये बन्धन में रहने वाले नहीं हैं। अतः प्रकट में सम्राट के लिए सुरक्षा के प्रबन्ध हटा दिये, किन्तु इधर-उधर सुरक्षाधारी रहने लगे। सम्राट ने देखा कि अब प्रकट रूप में तो नहीं छिप कर मेरी सुरक्षा सम्बन्धी कार्यवाही चलती है, तो वह

खीझ उठा। चुपचाप छत पर चला जाए। छत पर प्रबन्ध करें, तो वह महल में आ जाए। महल में सुरक्षा व्यवस्था करें, तो वह बाहर निकल जाए। वह तो निर्भय घूमता। उसे कहीं कोई भय नहीं–कोई आतंक नहीं अनुभव होता था।

एक दिन की बात है। युवा सम्राट ऊपर छत पर अकेला सोया हुआ था। कुछ आहट सुनकर उसने आँखें खोली–बहुत कोशिश करने पर भी उसकी आँखे खुली नहीं, किन्तु आवाज स्पष्ट सुनाई दे रही थी। उसने साफ सुना। आवाज बहुत स्पष्ट थी–"राजन्, कर लिया तूने बहुत राज्य ! अब तेरा समय पूरा हुआ। मैं तुम्हें लेने आई हूँ। कल ठीक इसी समय आऊँगी। तू तैयार रहना।" राजा हैरानी से भर गया। चौंककर खड़ा हुआ। सामने काली छाया दिखाई दी। सम्राट समझ गया कि मृत्यु ही है। राजा कुछ बोले, इसके पूर्व ही वह छाया फिर बोली –"तुम तो स्वयं को निडर और बहादुर कहते हो, अब कुछ बोलते भी नहीं। तुम्हारा यहां का समय पूरा हुआ, अब दूसरी जगह चलना है। मैं कल आऊँगी।" यह कह कर वह छाया अदृश्य हो गई।

सम्राट तो पसीने-पसीने हो गया। भयभीत-आतंकित होकर नीचे दौड़ा। इतना डरा हुआ था कि तीन-तीन सीढ़ी एक साथ पार कर रहा था ! पसीने से तर-बतर ! धम-धम करता हुआ वह महलों में आया। रानी जगीं। सारे कर्मचारी भी जाग गए। सब हैरान थे। सारे कर्मचारी दौड़ कर आए–

"राजन, क्या हुआ ? आपको ऐसा परेशान कभी नहीं देखा।" रानियां भी पूछने लगीं–"क्या हुआ, आप इतने बदहवास क्यों हो? आखिर हुआ क्या ? कुछ बताइये तो !" सम्राट ने कहा–"समय हो गया, मुझे जाना है।" सबने पूछा–"कहां !" राजा खीझ कर बोला–"अरे मूर्खों, मुझे उस स्थान पर जाना है, जहां से कोई आ नहीं सकता।" रानियाँ बोलीं–"यह क्या कहते हो ?"

सम्राट ने कहा—"सच कहता हूँ। अभी-अभी मृत्यु मुझे बता कर गई है—मेरे द्वार पर दस्तक देकर गई है।" रानी ने कहा—"तुरन्त पंडित बुलवाओ, वे मृत्युंजय मंत्र का जाप करेंगे। पंडित उसी समय उपस्थित हुए। मृत्युंजय मंत्र का पाठ होने लगा। कुछ पंडित यज्ञ करने लगे। सम्राट का अभी भी डर से बुरा हाल हो रहा था। उसे कुछ भी सूझता नहीं था कि क्या करूँ। मृत्यु को कैसे टाला जाए। इतने में सेनापति बोला—"मृत्यु आएगी। आपको तो वह महलों में खोजेगी, लेकिन आप महल में रहो ही नहीं। घोड़ा लेकर भाग जाओ।" राजा को यह युक्ति पसंद आई वह व्यग्रता पूर्वक बोला—"तुम्हारे पाठ और जाप आदि सब धरे ही रह जायेंगे। मृत्यु आ गई तो वह मुझे छोड़ेगी नहीं। सेनापति ने ठीक सुझाया है। मुझे तो यहां से भाग जाने दो।" उसी समय सबसे तेज दौड़ने वाला घोड़ा मँगाया। बिना लक्ष्य के—बिना दिशा के ही दौड़ाने लगा। उसको कुछ नहीं दिख रहा था—चारों ओर मृत्यु की भयानक काली परछाई दिखाई दे रही थी। घोड़ा दौड़ाता चला गया।

दौड़ते-दौड़ते सघन जंगल में–बहुत दूर जा पहुँचा। एक पर्वत आया। पर्वत को पार कर लिया तो एक गुफा मिली। सम्राट का थकान और चिन्ता से हुलिया बिगड़ रहा था—सांस फूल रही थी—हर क्षण मृत्यु का भय उसके सिर पर हावी था। घोड़ा भी वुरी तरह थक गया था और सम्राट भी बेहाल था। गुफा को देख कर उसने यह सोचा कि इस गुफा में छिप कर बैठ जाना चाहिए। गुफा में अंधेरा भी है। मौत से बचने की यह सबसे श्रेष्ठ जगह है।

इस विचार ने उसे थोड़ा आश्वस्त किया। घोड़े से नीचे उतरा और गुफा के अन्धकार में विश्राम करने लगा। समय वोतने लगा। संध्या हुई फिर रात्रि हुई। सम्राट रात्रि को निश्चिन्त था। उसे विश्वास था मृत्यु यहां नहीं आ सकती, किन्तु रात्रि का थोड़ा समय ही बीता था कि मृत्यु सामने आकर खड़ी हो गई। राजा तो भय के मारे जैसे जड़वत् हो गया। मृत्यु बोली–"तुमने और तुम्हारे घोड़े ने वहुत अच्छा किया। मैं तो विचार कर रही थी कि तुम्हारी मौत तो इस स्थान पर लिखी है। यह जगह तुम्हारे महलों से सैंकड़ों मील दूर है। इतने कम समय में तुम यहां तक कैसे पहुँच पाओगे, लेकिन तुम्हारा घोड़ा वहुत अच्छा है। "जिसने मेरी समस्या हल कर दी।" सम्राट उस निर्जन गुफा में भी मृत्यु से न बच सका।

बन्धुओं, मौत से कौन बच सका है? मृत्यु से कहां तक

बचोगे ? 'मौत' शब्द ही खौफनाक लगता है। लेकिन मौत से भय किनको लगता ? जिन्होंने आत्म स्वरूप को नहीं जाना हो–वे ही मृत्यु से डरते हैं। जिन ज्ञानी चेताओं ने मृत्यु के स्वरूप को समझ लिया है वे इससे नहीं डरते। आती है तो आए। समझ लिया कि आए हैं—अब जाना भी है। वस्त्र ही तो बदलना है, भयभीत क्यों हों ? कहा है :

जिस मरने से जग डरे, मुझ मन अति आनन्द ।
मरने से ही पाइये, पूरण परमानन्द ।।

बन्धुओं, ज्ञानवन्त पुरुष तो मृत्यु से भय नहीं खाते, अपितु उसका स्वागत करते हैं। मृत्यु को परमानन्द का साधन भी बता दिया हैं। यहां क्या कहा है ? जिस मरने-मरने के नाम से सारा संसार डरता हैं, ज्ञानी जन कहते हैं कि वही ज्ञानवान् के लिए आनन्द का विषय हो जाता है, क्योंकि मर कर ही—शरीर रूपी कैद से छूटकर ही तो परमानन्द तत्व की उपलब्धि होती है। शरीर छोड़ने पर ही मुक्ति मिलेगी। मृत्यु अनिवार्य समझ ली तो फिर शोक का विषय नहीं रहेगा। गीता में आया है :

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय, नवानि गृह्णाति न रोपराणि।
एवं शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही ।।

शरीर को वस्त्र के समान बताया है। मृत्यु तो चोला ही बदलना है। इस श्लोक का भाव हम यों कर सकते हैं :—

जैसे पुराने त्याग कर नर, वस्त्र नव बदलें सभी ।
यों जीर्ण तन को त्याग, नूतन देह धरता जीव भी ।।

जरा सोचें कि आपकी पुरानी पोशाक छीनकर कोई यदि आपको नया सूट भेंट करें तो क्या उस पर नाराज होंगे ? उस व्यक्ति पर आप खुश होंगे, यह निश्चित और निर्विवाद सत्य है। नए वस्त्र देने वाले को बहुत अच्छा मानोगे। कहोगे—"अरे, ले जा पुरानी पोशाक–नई पोशाक मिल रही है फिर और क्या चाहिए? यही तो मृत्यु के लिए कहा है। पुराना शरीर छीन कर मृत्यु नया शरीर देती है, फिर क्या डरना और क्या दुःखी होना ? हम डरते इसलिए हैं कि हमें पता नहीं कि अगला शरीर कैसा मिलेगा ? पुराना तो छिन रहा है–नया क्या जाने कैसा मिले ! यदि सत्कर्म किए हों, तो सहर्ष मृत्यु का आह्वान करेंगे। तब अगले शरीर के लिए कोई आशंका नहीं होगी मन में। सहर्ष मृत्यु का स्वागत—इसे जैन शास्त्रों के अनुसार संलेखना-संथारा कहा गया है। संलेखना और संथारे पूर्वक मृत्यु का आह्वान करने का भी एक विधान है। जब शरीर कृश हो जाए–साधना के योग्य न रहे तब संथारा किया जाता है। उस समय भावना करते हैं–"यह शरीर अब जीर्ण-शीर्ण हुआ–साधना अनुपयोगी होने से बेकार हो चुका अतः मृत्यु सहर्ष आओ, हम तैयार हैं–प्रतिक्षण तैयार हैं।" हमें पूर्ण विश्वास है कि आगे भी अच्छा शरीर ही मिलेगा। यह छूटे तो छूटे ! फिर से धर्म साधना करेंगे।

जिसने मृत्यु के स्वरूप को समझ लिया, वे हँसते-हँसते उसे बुलाते हैं। इस रूप में अन्तगड़ सूत्र में ऐसी ही वीरात्माओं का

वर्णन है। उनका विवेचन है। 8 सर्ग यानि अध्यायों में ऐसी मुक्ति गामी आत्माओं का वर्णन है। प्रथम से पांचवें तक तो अरिष्टनेमि का और बाकी के तीन में महावीर प्रभु के समय का वर्णन इसमें दिया गया है। एक-एक प्रसंग ऐसे हैं, जो चेतना को झकझोर देते हैं।

आज ही आपने सुना—"तेणं कालेणं तेणं समएणं चम्पा नाम नयरी होत्था।" किस नगरी का वर्णन है? चम्पा नगरी का। सुधर्मा स्वामी का वर्णन करते हैं। बड़ा ही सरस, ज्ञानवर्धक और विवेचनीय विषय है। वे एक उच्चकोटि के साधक थे। उनके पूर्व 'आर्य' विशेषण लगाया जाता था। आर्य क्या? संस्कृत में आर्य की इस रूप में परिभाषा आती है। बताया है जो हेय धर्मों से डरता है वह आर्य है।

आरात् सर्व हेयधर्मेभ्यो इति आर्यः।

रामायण में आर्य और अनार्य की परिभाषा इस प्रकार स्पष्ट की गई है। आर्य–अर्थात् जो धर्म के अनुकूल आचरण करे, वह आर्य और जो धर्म के प्रतिकूल चले, वह अनार्य है। आप आर्य हैं, क्योंकि आर्य क्षेत्र में रहते हैं। आर्य कुल में आपने जन्म लिया है–आर्यक्षेत्र शुद्ध क्षेत्र है। वीतराग धर्म का क्षेत्र है।

सुधर्मा स्वामी के विषय में बताया है। वे आर्य क्षेत्र में उत्पन्न हुए हैं। सुधर्मास्वामी आर्य हैं। वे समस्त पापवृत्तियों को छोड़ चुके हैं। फिर आया है विशेषण 'मुनि'। मुनि कौन?

आप सामायिक की पाटी वोलते हो। क्या उच्चारण करते हो ?
करेमि भंते सामाइयं सावज्जं जोगं पच्चक्खामि जावनियमं
पज्जुवासामि दुविहं तिविहं मणेण वायाए काएणं न करेमि न
कारवेमि तस्स भंते पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं
वोसिरामि।

आप 2 करण 3 योग से सामायिक का पच्चक्खाण करते हो। लेकिन मुनि 3 करण 3 योग से करता है। सभी पापवृत्तियों का त्याग करता है।

सव्वं सावज्जं जोगं पच्चक्खामि जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं....
वोसिरामि।

जो साधु वनता है, वह सभी प्रकार के सावद्यकारी कार्यों से दूर रहने का आजीवन त्याग लेता है। 5 मूल महाव्रत बताएँ हैं, मुनि वे पाँचों महाव्रत तीन करण तीन योग से जावज्जीवाए–जीवन पर्यन्त के लिए धारण करता है। सावद्य यानि हिंसाकारी प्रवृत्ति से निवृत्त होता है। मुनि सावद्य कार्यों का यावत् जीवन त्याग करे, पापों का त्याग करे, धर्म में स्थिर हो, वह मुनि होता है। मुनि को आर्य कहा है। आगे का विशेषण 'भगवन्' आया। यह कहाँ तक उचित है ? आचार्य को भगवन् क्यों कहा जाए ? आचार्य तो वहुत वड़ा पद है, साधुओं के लिए
है। शास्त्रीय दृष्टि से 3 प्रकार के स्थविर

वय स्थविर—जिसने 60 वर्ष की

दीक्षा स्थविर—20 वर्ष की दीक्षा पर्याय वाला।

श्रुत स्थविर—आचारांग आदि का शुद्ध अध्ययन करने वाला।

आर्य सुधर्मा स्वामी के लिए भी 'भगवन्' कहा गया। जंबू स्वामी पूछते हैं–"भगवन् आपने अनेक सूत्रों का विवेचन किया। मैं आगे और सुनना चाहता हूँ।"

जम्बूस्वामी का वृतान्त :

बन्धुओं आप 8 दिनों में आगे सुनेंगे। आपने अभी सुना कि गौतम स्वामी आदि कुमार किस प्रकार 32-32 रमणियों को केवल एक संदेश सुनकर–एक देशना सुनकर ही छोड़ देते हैं–32 करोड़ की सम्पत्ति को क्षण भर में त्याग देते हैं। आज तो एक-एक पैसे के लिए भाई-भाई में, और पिता-पुत्र में भी विवाद-तनाव होते हैं–न कुछ के पीछे संघर्ष हो जाते हैं। एक ही उपदेश सुधर्मा स्वामी का जंबूस्वामी ने सुना–भर यौवन में थे। उनकी आत्मा तो झंकृत हो गई। उन्होंने जन्म-मृत्यु को समझा। उपदेश सुनते ही खड़े हुए। बोले–"भगवन्, आपका कथन यथार्थ व रुचिकर लगा। मैं माता-पिता की आज्ञा लेकर आना चाहता हूँ।"

जम्बूस्वामी घर की ओर चले। मन आह्लाद से भर रहा था। रास्ते में ही हजारों लोग उपदेश सुनकर लौट रहे थे। भीड़ से बचते हुए जंबूस्वामी शीघ्रता से चले। बहुत बेचैनी थी–जल्दी

घर पहुँचकर माता-पिता से आज्ञा लेना चाहते थे। भीड़ से बचने और जल्दी पहुँचने को गली के रास्ते से चले। वहाँ तोपची अभ्यास कर रहे थे। एक गोला जम्बू स्वामी के पैरों की ओर को आया। तोप का गोला जितनी तेजी से आया, उतनी ही फुर्ति से जम्बू स्वामी ने पैर चौड़े कर दिए। गोला बीच में से निकल गया जम्बू साफ बच गए। चिन्तन ने जोर पकड़ा–"अरे, मैं तो यहीं ढेर हो जाता, मन की मन में ही रह जाती। माता-पिता क्या यहां मुझे मौत से बचाने को आ जाते ? नहीं नहीं, अभी वापस जाकर तुरन्त दीक्षा लेनी है।" वापस सुधर्मा स्वामी के पास लौट गए। बोले–'मुझे अभी दीक्षा दीजिए।' आखिर अखंड ब्रह्मचर्य की प्रतिज्ञा कर ली। अभी यौवन है। वैभव में पले-बढ़े हैं लेकिन सब कुछ एक झटके से छोड़ दिया। ईभपति सेठ के पुत्र हैं। ईभपति किसे कहते हैं, जानते हैं आप ? अम्बावाड़ी सहित हाथी को–अर्थात् हाथी के ऊपर के उपकरण-छत्र आदि सबसे सुसज्जित हाथी को खड़ा करके धन से ढक लिया जाय, उस धन का परिमाण बताया है कि उतने धन का स्वामी ईभपति होता है। ऐसे सेठ के जम्बू स्वामी पुत्र हैं, लेकिन वे संयम लेने का संकल्प कर लेते हैं। दीक्षा से पूर्व परिवारजनों की आज्ञा आवश्यक है अतः घर आते हैं। माता–पिता से अपना निश्चय प्रकट करते हैं। वे कहते हैं– 'तू हमारा एक ही लड़का–बुढ़ापे का सहारा है। क्या हमें ऐसे ही छोड़ देगा ?'

जम्बू स्वामी कहते हैं– "मेरे अनंत माता–पिता है जो सभी

मेरे से अपेक्षा रखते हैं। प्रत्येक भव के माता–पिता की सेवा और रक्षा के द्वारा मैं अपने दायरे को विशाल बनाना चाहता हूं।" बन्धुओं, यह तो लम्बा संवाद है। निष्कर्ष होता है कि उनको दीक्षा दी जाती है। आपने पढ़ा–सुना होगा कि 8–8 लड़कियों ने जम्बू स्वामी से ही विवाह करने का संकल्प किया था। जम्बू के समक्ष बात आई। वे बोले– "आज ही कर दें शादी। कल मैं दीक्षा ले लूँगा। यदि वे सब यह मंजूर करती हों तो शादी हो सकती है।" कैसी विकट स्थिति !

वे आठों कन्याएँ अपने माता–पिता से यह सुनकर उत्तर देती हैं– "ठीक है, शादी तो होने दो। यदि हमसे रोका जाएगा तो उनको दीक्षा लेने से रोक लेंगी।" निन्नयानवे करोड़ का धन दहेज में आया। आठों कन्याएँ रात्रि में जम्बू कुमार को समझाने का यत्न कर रही हैं। जम्बू एक–एक विरक्तात्मा का उदाहरण देते जाते हैं और उनका मुंह बन्द करते जाते हैं। सारा दहेज का धन और सामान यूँ ही बिखरा पड़ा है।

इधर प्रभव चोर अपने 500 साथियों के साथ आता है। चौक में ही धन पड़ा है। प्रभव चोर बड़ा ही निपुण चोर था। उसने दो विद्याएँ सीखी थीं– अवस्थापिनी विद्या से वह सबको सुला देता था और तालोद्घाटिनी के प्रभाव से बन्द ताले खुल जाते थे। प्रभव चोर ने अपनी विद्या का प्रयोग करके सबको सुला दिया। जम्बू स्वामी पर उसकी अवस्थापिनी विद्या का कुछ प्रभाव

नहीं हुआ। वे जागते ही रहे। आहट सुनकर उसी क्षण उनका चिन्तन चला– "मुझे तो दीक्षा लेकर सुबह ही यह सारा धन छोड़ देना है।" जम्बू कुमार के मन में भाव आया कि यदि ये चोर सारा धन आज न ले जाकर कल ले जाएँ तो अच्छा हो। लोग सोचेंगे धन चोरी चला गया, इससे वैराग्य लिया। धर्म की हीनता होगी, अतः आज धन चोरी न जाए कल चुराया जाए।" जम्बू स्वामी का यह चिन्तन चला और 499 चोरों के पैर जहाँ के तहाँ जम्बू कुमार के मनोबल के प्रभाव से चिपक गए। वे पैर उठाएँ तो उठे ही नहीं। प्रभव कहे कि चलो तो वे कहें हम कैसे चलें पैर उठ ही नहीं रहे। बन्धुओं मनोबल की शक्ति सर्वोच्च होती है! प्रभव ने ऊपर जाकर देखा तो कक्ष में आठ रुपसी कुमारियों के बीच जम्बू स्वामी को निर्विकार भाव से बैठे पाया। वैराग्य उपदेश चल रहा है। प्रभव चोर तो अपने साथियों की दशा देखकर ऊपर गया था, यह देखने कि कौन पुण्यात्मा है, जिसके प्रभाव से सबके पैर चिपक गए हैं। वहाँ जाकर तो दृश्य ही दूसरा देखा। वह भीतर चला गया।

प्रभव चोर नें हैरान होकर कहा–"अरे, तुम कैसे व्यक्ति हो? पत्नियों के साथ बहनों का-सा व्यवहार कर रहे हो?" जम्बू ने पूछा– "तुम कौन हो?" चोर ने अपना परिचय देकर कहा– "मेरे 499 साथियों के तुमने जिस विद्या से पैर च[illegible] हैं, व[illegible] तुम मुझे सिखा दो। बदले में मैं अपनी [illegible]

दूँगा।" जम्बू स्वामी ने स्पष्ट किया– "भाई, मैं ऐसी कोई विद्या नहीं जानता। मैंने तो केवल इतना संकल्प किया था कि धन आज नहीं कल चोरी हो। यह तो लोकापवाद की दृष्टि से सोचा था, वरना मुझे तो कल दीक्षा लेनी ही है।" प्रभव आश्चर्यचकित हो गया– "अरे, तुम इतना धन, वैभव और आठ रुपसी पत्नियाँ छोड़कर वैराग्य ले रहे हो?"

गहराई से चिंतन करते हुए प्रभव को भी विरक्ति भाव उमड़ा। प्रभव के सारे साथी भी अपने सरदार के साथ संयम लेने को तैयार हो गए। कितने हुए? एक क्षण में परिवर्तन हो गया। एक अकेला जम्बू कुमार था अब 501 विरक्तात्माएँ तैयार थीं। आठों पत्नी, उनके माता-पिता सहित एक साथ 527 आत्माएँ जागृत हुई। सुधर्मा स्वामी के पास फिर जम्बू कुमार के साथ 527 दीक्षाएँ हुईं। बन्धुओं, कैसे द्रुतगामी जागरण होता है, लेकिन वह युग कुछ और था। महावीर के समय में भी उनके चरणों में इन्द्रभूति आदि ग्यारह गणधर आए थे। उस काल में सैंकड़ों-हजारों दीक्षाएँ एक साथ हो जाती थीं।

हलुक कर्मी आत्माएँ जरा से उपदेश से जागृत हो जाती थीं। कितने ही कुमार यौवन में प्रवेश करने वाले– उपदेश सुनते ही साधना के पथ पर चल पड़ते थे। यहाँ कितने युवक हैं जो सामायिक की प्रेरणा देने पर भी सामायिक तक करने नहीं बैठते। असर होता हैं क्या? शर्म आती है। बन्धुओं, ये 8 दिन अन्तर के

मैल को निकालने के दिन हैं पर्यूषण पर्व के दिनों में आत्मा के प्रति हमारा ध्यान होना चाहिए। हम भूल जाएँ कि कोई दुकान है– कोई परिवार है ! केवल आत्मा में प्रवेश की बात याद रहे।

यह तो महत्वपूर्ण समय है। यदि आत्मकल्याण लक्ष्य को साध लिया तो ठीक, वरना पछताना पड़ेगा। समय तेज है– जीवन खप रहे हैं– उसमें से जितना सार तत्व निकाल सको, निकाल लो। साधना में मन को लगा लो, अन्यथा संसार का वहाव अनंत भवों के रूप में निरन्तर बह रहा है। ये दिन विशेष हैं– सत्संग का अवसर यूँ ही नहीं मिलता– बड़े महत्वपूर्ण दिन मिले हैं- सारे विष के लिए एक अमृत की बूँद के समान– सारे दुःख-शोक में आनंद की प्राप्ति कराने का हेतु ये पर्यूषण पर्व आते हैं।

सर्प विष और अमृत जड़ी :

एक सर्प और नेवले की लड़ाई हो रही थी। दोनों जन्मों के वैरी हैं। अपना-अपना वैर एक दूसरे पर निकाल रहे थे। ज्योंही साँप काटता था, नेवला निकट की झाड़ी में जाता– एक जड़ी का रस पीकर बाहर आ जाता। फिर से लड़ने लगता। कई वार इसी प्रकार हुआ। नेवला जड़ी का रस पीकर पूर्ण स्वस्थ होकर दुगने जोश के साथ साँप का सामना करता। साँप का विष उस पर निस्तेज था क्योंकि वह जड़ी सर्पदंश के विष को तुरन्त दूर कर देती थी। साँप क्रुद्ध होकर नेवले को काटता– नेवला झाड़ी में

जाता– रस पीता– फिर से आकर लड़ने लगता। यूँ करते-करते नेवले ने सर्प को मार दिया।

बन्धुओं, उस नेवले को ज्ञान था कि विष को खत्म करने वाली जड़ी कौन-सी है। विष फैलने के पूर्व ही वह उसका निराकरण कर लेता था। एकदम झाड़ी में जाता था। उसे जानकारी थी कि अमृत जड़ी कौन-सी है। अभी आपके यहाँ निकटवर्ती निकुम्भ में ही मोहनलाल जी ने हमारे सामने साँप को लाकर बैठा दिया। उन्हें तो वह जड़ी भी ज्ञात है। एक लकड़ी हमें बताई बोले– "यह लकड़ी यदि पड़ी हो तो सर्प निकट भी नहीं आ सकता। कई बार उन्होंने बिल से– कहीं से भी सर्प को निकाल कर बाहर बुला दिया है। वे तो कहते हैं– "मैं अन्य जड़ी नहीं जानता, केवल नवकार जड़ी ही जानता हूँ।" आप भी थोड़ा वीतराग वाणी और सत्संग रूपी जड़ी का सेवन करें– अमृतवाणी का रस पिएँ तो विषयवासना का विष सहज ही निष्प्रभावी हो जाए। धर्म साधना तो गहरा समुद्र है– जितना गहरे उतरोगे, उतना ही लाभ मिलेगा।

साधना का संकल्प लें :

पर्यूषण पर्वों में हम संकल्प लें– 1 घण्टा रोज साल भर का अवलोकन करेंगे– इन दिनों में निष्ठापूर्वक ब्रह्मचर्य का पालन– रात्रि भोज, निन्दा और क्रोध का त्याग करेंगे। इन दिनों में स्वयं

को केवल आत्म केन्द्रित करें। संसार की परिक्रमा से हटकर आत्मा की परिक्रमा करें।

आज तो आपने अतंगड सूत्र में उन कुमारों का ही वर्णन सुना है। आगे अद्‌भुत वर्णन आयेंगे। देवकी का, कृष्ण का भी विवेचन और भी अनेक चारित्रों का विवेचन आप सुनेगे। आप सुनें– चिंतन करें। हमारा तो संकेत यही है कि प्रेरणा न देनी पड़े– किसी को कहना न पड़े सामायिक करेंगे तो कर्म बन्धन से आपकी मुक्ति होगी। हमारा तो यह कर्तव्य है– संकेत है। प्रभु महावीर के दामाद जमाली की बात सुनी होगी। प्रभु ने खुद उसे दीक्षित किया– खुद अलग हो गया तो प्रभु न रोक सके। जो भवितव्यता होती है वह तो होती है, लेकिन हम तो केवल रास्ता बता देते हैं आगे आप जानो।

योऽपि न सहते हित-मुपदेशं तदुपरि मा करु कोपंरे।

नीतिकारों ने कहा है जो हितकर उपदेश भी न माने, उसको तो नादान ही समझना चाहिए। हम कर्त्तव्य की दृष्टि से सुना देते हैं– कुछ कह देते हैं। आपकी आत्मा निर्मल बन सके। बन्धुओं, यह हमारी जिम्मेदारी भी है– आपका आग्रह और आचार्य भगवन की आज्ञा से हम तो अपना कर्त्तव्य कर रहे हैं। आप अपना कर्त्तव्य सोचें। चिंतन करें और पर्यूषण पर्व के दिनों में आत्मा के निकट रहने का प्रयास बनायें।

29–8–89